श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

[श्रीचैतन्य महाप्रभुके श्रीमुखनिःसृत]

श्रीशिक्षाष्टक

मूल श्लोक, अन्वय, श्लोकानुवाद, श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर कृत सन्मोदनभाष्य, सन्मोदन भाष्यका अनुवाद, श्रीचैतन्यचरितामृतसे उद्धृत पद्यानुवाद एवं श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर कृत कीर्त्तन–पद

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी ॐविष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके

अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा अनूदित एवं सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—
श्रीभक्तिवेदान्त वन महाराज

चतुर्थ संस्करण—१०,००० प्रतियाँ
श्रीअद्वैताचार्य प्रभुकी आविर्भाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२२
२ फरवरी २००९

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰ प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰ प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰ प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰ बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी, उड़ीसा
०६७५२-२२७३१७

प्रस्तावना

श्रीगौड़ीय वैष्णव साहित्यमें ही नहीं, वरन् श्रुति, स्मृति, पुराण आदि समग्र भारतीय वाङ्मयमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके श्रीमुख-विगलित 'श्रीशिक्षाष्टक' एक परमोज्ज्वल दिव्यरत्न है। मदीय परमाराध्य श्रीश्रीगुरुदेव—नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी कृपा एवं प्रेरणासे आज उस श्रीशिक्षाष्टकको हिन्दी अनुवादके सहित प्रथम बार पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। कलियुग पावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णने ही किसी विशेष रसास्वादनके लोभसे अपनी ह्लादिनीशक्ति श्रीमती राधिकाजीके हृद्गत भाव और अङ्ग-कान्तिको धारणकर अनर्पितचर कृष्णनाम और कृष्णप्रेमका उपहार समग्र विश्वको प्रदान किया है। उन्होंने अपने प्रगाढ़तम पाण्डित्यप्रतिभा, अनुपम त्याग, विनम्र स्वभाव, परम उज्ज्वल निर्मल चरित्र तथा सर्वोपरि अलौकिक एवं अश्रुतपूर्व भक्तिभावसे जहाँ प्रख्यात दिग्विजयी पण्डितों एवं विद्वज्जनोंको चमत्कृत किया था, वहीं धर्मप्राण साधारण जनता एवं भावुक भक्तोंको भी विशुद्ध प्रेमधर्मकी ओर सहज रूपसे आकृष्ट किया था।

केवल श्रीचैतन्य महाप्रभु ही नहीं, बल्कि उनके अनुगामी श्रीस्वरूप दामोदर, रायरामानन्द तथा छः गोस्वामियोंसे लेकर वर्त्तमान आचार्यों एवं भक्तजनोंके भी उक्त विशिष्ट एवं महान् गुणोंके कारण आज विश्वके कोने-कोने, नगर-नगर तथा गाँव-गाँवमें भगवद्भक्तिकी लहर फैल गयी है, सर्वत्र मृदङ्ग-करतालयुक्त हरि-सङ्कीर्त्तनकी ध्वनि गूँज रही है। आज श्रीगौड़ीय वैष्णवोंका विश्वकी प्रधान-प्रधान भाषाओंमें फैला हुआ विशाल साहित्य एवं प्रचार-प्रसार वास्तवमें हमारे लिए महान् गौरव एवं आनन्दका विषय है। फिर भी यह परम आश्चर्यकी बात है कि सर्वसमर्थ होनेपर भी श्रीचैतन्य महाप्रभुने अन्यान्य मत-प्रवर्त्तकाचार्योंकी भाँति स्वयं कोई ग्रन्थ आदि नहीं लिखे, बल्कि अनुगामियोंके द्वारा ही लिखवाये हैं। उनके द्वारा स्वरचित केवल आठ श्लोक ही प्रसिद्ध हैं। और भी कुछ श्लोक उनके द्वारा रचित बतलाये जाते तो हैं; किन्तु वे अभी प्रमाणसापेक्ष हैं।

यह शिक्षाष्टक सम्पूर्ण वेदोंका सारस्वरूप है। इसकी संस्कृत भाषा अत्यन्त सहज-सरल होनेपर भी इसका आशय इतना गम्भीर है कि आजीवन अनुशीलन करनेपर भी इसका अन्त नहीं मिल सकता। पढ़ने और विचार करनेपर प्रत्येक बार नये-नये भावोंकी स्फूर्ति होती रहती है। इसलिए यह नित्य नवीन बना रहता है। अतः यह शिक्षाष्टक श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके लिए कण्ठहारस्वरूप है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके परिकर, आधुनिक युगमें भक्ति–भागीरथीको पुनः प्रवाहितकर विश्वको प्रेम–प्लावित करनेवाले, बहुत–से भक्तिग्रन्थोंके रचयिता श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने इन श्लोकोंका एक सुसिद्धान्तपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी भाष्य लिखा है। यह भाष्य 'श्रीसन्मोदनभाष्य' के नामसे प्रसिद्ध है। इस भाष्यके अनुशीलनके बिना मूल श्लोकोंके निगूढ़ तत्त्वोंको समझना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। इस हृदयग्राही भाष्यके सहारे इन श्लोकोंमें छिपे हुए प्रेमावतार श्रीशचीनन्दन गौरहरिके हृद्गत परमोन्नत उज्ज्वल प्रेमरसके सर्वोच्च भावोंका अवलोकन करनेपर पद–पदपर आश्चर्य–चकित होना पड़ता है; हृदय अप्राकृत आनन्दसे विभोर हो उठता है और श्रीकृष्णनामके प्रति अभूतपूर्व श्रद्धा और भक्तिभावका सञ्चार हो पड़ता है। इसकी महिमा अनन्त है। यह स्वयं महामहिम है। इस विषयमें स्वयं भाष्यकारने संक्षेपमें, किन्तु महत्वपूर्ण रूपमें प्रकाश डाला है। अतः कुछ अधिक लिखना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है।

श्रीशिक्षाष्टकमें सम्बन्ध, अभिधेय (साधन) और प्रयोजन (साध्य) तत्त्वोंका सुन्दर रूपमें समावेश है। यों तो आठ श्लोकोंमें अभिधेय–तत्त्वकी शिक्षा निहित है, फिर भी प्रथम पाँच श्लोकोंमें साधनभक्ति, छठे और सातवें श्लोकोंमें भावभक्ति और सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें प्रेमभक्ति परिस्फुट है। विशेषतः सातवें और आठवें

श्लोकोंमें श्रीमती राधिकाजीके निजस्व अधिरूढ़ महाभावान्तर्गत विप्रलम्भ भावात्मक प्रेम-वैचित्त्यका अत्युच्च निर्देशन पाया जाता है।

जगद्गुरु नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' ने ४४२ गौराब्द (सन् १९२९ ई.) में बँगला भाषामें श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर कृत 'सन्मोदनभाष्य' तथा 'गीति' एवं स्वरचित 'विवृति' (लघु-विवरण) के सहित श्रीशिक्षाष्टकको 'साधन-पथ' नामक ग्रन्थके अन्तर्गत सम्पादित और प्रकाशित किया था। परन्तु हिन्दी साहित्यमें इसका अभाव मुझे बुरी तरह खटकता था। परमाराध्य श्रीश्रीगुरुदेवकी यह अभिलाषा थी कि बँगला भाषाके इस अनुपम हितकारी भक्ति-साहित्यका हिन्दी भाषामें भी प्रकाशन हो। इसके लिए उन्होंने मुझे अनुग्रहपूर्वक प्रेरणा प्रदान की।

अन्तमें मैं श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्त्तमान सभापति एवं आचार्य, मेरे सतीर्थवर परिव्राजकाचार्यवर्य श्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजका विशेष आभारी हूँ। ये पराविद्यानुरागी एवं प्रभावशाली आचार्य हैं; अधिकन्तु अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म श्रीआचार्यकेशरीके परम प्रियपात्र हैं। ये इस समय स्वयं श्रीगौड़ीय भक्ति-साहित्यके सृजन एवं सम्पादन (बँगला भाषा) में संलग्न हैं तथा इनके विशेष उत्साह दान और प्रेरणासे ही समितिका यह संस्करण प्रकाशित हो रहा है। ये अनुग्रहपूर्वक परमाराध्य

श्रीगुरुदेवके श्रीकरकमलोंमें उनके इस प्रिय 'शिक्षाष्टक' को समर्पणकर उनका मनोऽभीष्ट पूर्ण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें कातर प्रार्थना है।

इस ग्रन्थके संस्कृत अंशोंके अनुवादमें विशेष रूपसे सहयोग देनेके कारण त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिवेदान्त ऊर्द्ध्वमन्थी महाराज विशेष धन्यवादके पात्र हैं तथा स्नेहास्पद श्रीमान् शुभानन्द ब्रह्मचारी आशीर्वादके भाजन हैं। इसकी पाण्डुलिपि प्रस्तुत करने और प्रूफ-संशोधन आदि विविध कार्योंमें त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिवेदान्त पद्मनाभ महाराज, श्रीओमप्रकाश व्रजवासी एम॰ए॰, एल॰एल॰बी॰, स्नेहास्पद श्रीमान् श्यामसुन्दर व्रजवासी बी॰एस-सी, बी॰एड॰, श्रीमान् नन्दनन्दन ब्रह्मचारी, श्रीमान् नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी तथा श्रीसान्दीपनि ब्रजवासी आदिकी सेवा प्रचेष्टा अत्यन्त सराहनीय रही है। श्रीगुरुपादपद्म इनपर कृपाशीर्वाद करें। इस ग्रन्थके प्रकाशनमें परम श्रद्धालु स्नेहास्पद श्रीयुत सुधांशु शेखर चौधरीने विशेष रूपसे आर्थिक-आनुकूल्य द्वारा श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी सेवाकी है। श्रीश्रीगुरुगौराङ्गदेव इनपर प्रचुर कृपा करें—उनके श्रीचरणोंमें यही प्रार्थना है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्तिपिपासु श्रद्धालु साधक और विद्वन्मण्डलीमें इस ग्रन्थका अवश्य ही समादर होगा। वे लोग इसका पाठकर श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रचारित विमल प्रेमधर्ममें प्रवेश करें—यही अभीष्ट है। परदुःखकातर, भगवत्कृपाकी साक्षात् मूर्त्ति परमाराध्य

श्रीगुरुपादपद्म एवं श्रीशचीनन्दन श्रीगौरहरि प्रसन्न होकर हमें अपनी मनोभीष्ट-सेवामें अधिकार प्रदान करें—उनके श्रीचरणकमलोंमें यही एकमात्र सकातर प्रार्थना है। अलमति विस्तरेण।

श्रीगौराविर्भाव तिथि
दोल (होली) पूर्णिमा
१९०५ भारतीयाब्द
(१७ मार्च, १९८४ ई॰)

श्रीगुरुवैष्णवकृपालेशप्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु श्रीभक्तिवेदान्त नारायण
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
पो॰ मथुरा (उ॰प्र॰)

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी वन्दना

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयाऽवतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः श्रीशचीनन्दनः॥

(श्रीरूपगोस्वामीकृतविदग्धमाधवनाटके)

जिस सर्वोच्च उज्ज्वल प्रेमरसका दान जगत्‌को चिर काल तक नहीं दिया था, जो उसी अपनी निगूढ़ भक्ति-सम्पत्तिका दान करनेके लिए परम करुणापूर्वक कलियुगमें अवतीर्ण हुए हैं, सुवर्णकान्तिसमूह (श्रीमती राधिकाकी अङ्गकान्ति) द्वारा देदीप्यमान वे ही श्रीशचीनन्दन सदा आप लोगोंके हृदयमें स्फूर्ति प्राप्त करें।

राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मानावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयं चैक्यमाप्तं
राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥

(श्रीस्वरूपगोस्वामीकृतकडचायां)

श्रीश्रीराधाकृष्णकी प्रणय-विकृतिरूप ह्लादिनीशक्ति द्वारा श्रीराधाकृष्णके स्वरूपसे एकात्म होकर भी विलास-तत्त्वकी नित्यताके हेतु राधा एवं कृष्ण नित्यकाल ही दोनों ही स्वरूपोंमें विराजमान हैं, वे ही दोनों तत्त्व इस समय एक

स्वरूप चैतन्य-तत्त्वके रूपमें प्रकटित हैं। ऐसे राधाभाव और कान्ति द्वारा आच्छादित उन गौररूपधारी कृष्णस्वरूपकी मैं वन्दना करता हूँ।

विषय–सूची

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रो विजयतेतमाम्

श्रीशिक्षाष्टक

नामतत्त्व

सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है?

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणम्
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्॥१॥

अन्वय—चेतोदर्पणमार्जनं (चित्तरूपी दर्पणका शोधन करनेवाले), भवमहादावग्नि-निर्वापणं (संसारस्वरूप महा-दावानलको सम्पूर्ण रूपसे बुझा देनेवाले), श्रेयःकैरवचन्द्रिका-वितरणं (जीवोंकी कल्याणरूपिणी कुमुदिनीके विकासके लिए भाव-चन्द्रिकाका वितरण करनेवाले), विद्यावधूजीवनं (विद्यारूप वधूके जीवनस्वरूप), आनन्दाम्बुधिवर्धनं (आनन्द-रूपी समुद्रको निरन्तर वर्द्धित करनेवाले), प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं (पग-पगपर पूर्ण अमृतका रसास्वादन करानेवाले) एवं सर्वात्मस्नपनं (बाहर-भीतरसे देह, धृति, आत्मा और स्वभावको सर्वतोभावेन स्नानके द्वारा निर्मल और सुशीतल करनेवाले), परं (केवल अर्थात् एकमात्र

अथवा सर्वोपरि) श्रीकृष्णसङ्कीर्तनं विजयते (श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन ही विशेष रूपसे जययुक्त हों)।

अनुवाद—चित्तरूपी दर्पणको शोधित करनेवाले, संसाररूप महादावानलको सम्पूर्ण रूपसे बुझा देनेवाले, जीवोंकी कल्याणरूपिणी कुमुदिनीको विकसित करनेके लिए भावरूपी चन्द्रिकाका वितरण करनेवाले, विद्यारूपी वधूके जीवनस्वरूप, आनन्दरूपी समुद्रको निरन्तर वर्द्धित करनेवाले, पग-पगपर पूर्ण अमृतका रसास्वादन करानेवाले, बाहर-भीतरसे देह, धृति, आत्मा और स्वभाव सबको सर्वतोभावेन निर्मल और सुशोभित करनेवाले केवल श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन ही विशेष रूपसे सर्वोपरि जययुक्त हों॥१॥

सन्मोदनभाष्यम्

[श्रीलसच्चिदानन्दभक्तिविनोदठक्कुरविरचितम्]

पञ्चतत्त्वान्वितं नित्यं प्रणिपत्य महाप्रभुम्।
नाम्ना सन्मोदनं शिक्षाष्टकभाष्यं प्रणीयते॥

'भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया। तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥' (श्रीमद्भा॰ २/२/३४) इति सिद्धान्तवाक्येन केवलं भक्तेः परमार्थप्रदत्वं सिद्धयति नान्येषां कर्मज्ञानादीनाम्। शास्त्रार्थावधारणमयीं भगवत्-लीलामाधुर्यलोभमयीं वा श्रद्धां बिना शुद्धा भक्तिर्लभ्या न भवति। जातायामपि तथाभूतश्रद्धायां सत्सङ्गेन बिना श्रवणकीर्तनलक्षणा हरिकथा न सम्भवति। 'सतां प्रसङ्गान्मम

वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः' (श्रीमद्भा० ३/२५/२५) इत्यादिना सत्सङ्गप्रभावेन भगवन्नामरूप-गुणलीलानुकीर्तनं स्यात्, श्रीमन्महाप्रभुशिक्षायां सर्वादौ तस्य माहात्म्यं निगदितम्। श्रीकृष्णकीर्तनस्य सर्वमङ्गलस्वरूपत्वात् चतुर्थपादान्तर्गतपरमिति शब्देन श्रद्धासत्सङ्गानन्तरं भजन-क्रियान्तर्गतश्रीकृष्णसंकीर्तनमेवात्र बोद्धव्यम्, न तु प्रतिविम्ब-भक्त्याभासान्तर्गतहरिसंकीर्तनम्। अत्राष्टके सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनविचारगर्भजीवकर्तव्यता स्वकीयवचनव्याजेनोक्ता। अस्मिन् भाष्ये तत्तद्विषयविचारोऽपि संक्षेपेण वक्तव्यः। शुद्धवैष्णवजन-परिसेवितचरणः श्रीमत्कृष्णचैतन्यचन्द्रो वदति श्रीकृष्णसंकीर्तनं विजयत इति। मायाशक्तिप्रसूतप्रापञ्चिके विश्वे कथं कृष्णकीर्तनं विजयते? श्रूयताम्। 'एकमेवाद्वितीयम्' इति (छान्दोग्य ६/२/१) श्रुतेः परमतत्त्वस्यैकत्वं, 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० आ० ४/४/१९) इति श्रुतिवचनात्तस्य निर्विशेषत्वं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति (छान्दोग्य ३/१४/१) निगमवचनात्तस्यैव सर्वदा सविशेषत्वं सिद्धम्। युगपत् सविशेष-निर्विशेषौ सिद्धौ सविशेषस्य प्रतीतिरेव सुतरां बलवती, निर्विशेषस्योपलब्ध्यभावात्। अस्मत्तत्त्वाचार्यः श्रीमज्जीवचरणा वदन्ति 'एकमेव परमतत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्य-शक्त्या सर्वदैव स्वरूपतद्रूपवैभवजीवप्रधानरूपेण चतुर्धावतिष्ठते। सूर्यान्तरमण्डलस्थिततेज इव मण्डलतद्बहिर्गततद्रश्मि-तत्प्रतिच्छविरूपेण' (भगवत्-सन्दर्भ १६ संख्या)। अत्रेदमेवोक्तं भवति भगवानेव परमं तत्त्वम्। स एव शक्तिमान्।

'शक्तिशक्तिमतोरभेदः' इति ब्रह्मसूत्रात् तयोरभेदः। किन्तु 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (श्वेताश्वतर ६/८) इति वेदवाक्येन तयाऽचिन्यशक्त्या दुर्घटघटकत्वमपि सिद्ध्यति। अतो नित्यभेदोऽप्यनिवार्यः, स तु केवलाद्वैतवादयुक्त्या न निवर्त्तनीयः। सा पराशक्तिरन्तरङ्गातटस्थाबहिरङ्गाभेदेन त्रि-धाऽवभासते। तत्रान्तरङ्गया स्वरूपशक्त्या पूर्णेनैव स्वरूपेण तत्तत्त्वं सर्वकल्याणगुणाश्रयतया भगवद्रूपेण नित्यं विराजते। तल्लीलासम्पादनार्थं तदानुकूल्यमय्या तया स्वरूपशक्त्या तत्तत्त्वं वैकुण्ठादिस्वरूपवैभवरूपेणावतिष्ठते। पुनस्तटस्थशक्त्या रश्मिपरमाणुस्थानीयचिदेकात्मजीवरूपेण तदेव वर्त्तते। बहिरङ्गया मायाख्यया शक्त्या प्रतिच्छविगतवर्णशाबल्यस्थानीयतदीय-बहिरङ्गवैभवजड़ात्मप्रधानरूपेणापि तल्लक्ष्यते। एवं प्रकारेण जीवजड़वैकुण्ठभगवत्स्वरूपाणामचिन्त्यभेदाभेदौ ज्ञेयौ। जीवस्यापि तदेकदेशत्वं तदाश्रयत्वात्। बहिश्चरत्वं तज्ज्ञानाभावात्। छायया रश्मिवत् माययाऽभिभाव्यत्वाच्च व्यपदिश्यते। तच्छक्तित्वञ्च तयैव तदीय लीलोपकरणत्वात्। तटस्थशक्ति-स्वभावात्तस्य मायाऽभिभाव्यत्वमपि सम्भवति। मायावशतापन्नानां तेषां जीवानां संसारदुःखम्। स्वरूपशक्तिसम्बन्धान्मायान्तर्द्धाने संसारनाशः स्वरूपावस्थितिश्च। मायामुग्धानां जीवानां पुनः पुनः संसारक्लेशानुभवानन्तरं यदा सत्प्रसङ्गात् शास्त्रतात्पर्ये विश्वासो भगवन्माधुर्ये लोभो वा जायते, तदा तेषां स्वरूपशक्तेर्ह्लादिनीसारवृत्तिभूतायां भक्तावधिकारो भवति। जातया श्रद्धया गुरुचरणाश्रयरूपसत्सङ्गप्रभावात् तत्त्वश्रवणं घटते।

श्रवणानन्तरं यदा तत्कीर्तनं भवति, तदा मायादमन-प्रक्रियारूपजीवस्वरूपविक्रम एव लक्ष्यते। प्रपञ्चे हरिकीर्तन-विजयस्यैषा प्रक्रिया। एवंभूतकृष्णकीर्तनाज्जीवस्य सप्त-प्रकारफलसिद्धिरपि दर्शिता चेतोदर्पणमार्जनमित्यादिना। तान्येव पृथक्-पृथक् विवेचयिष्यामि।

चेतोदर्पणमार्जनमित्यादिना जीवस्य स्वरूपतत्त्वं विवृतम्। तथा श्रीमज्जीवचरणाः 'जीवाख्यसमष्टिशक्तिविशिष्टस्य परमतत्त्वस्य खल्वंश एको जीवः। स च तेजोमण्डलस्य बहिश्चररश्मिपरमाणुरिव परमचिदेकरसस्य तस्य बहिश्चर-चित्परमाणुः।' तथा श्रीमद्वेदान्तभाष्यकारोऽपि 'विभुचैतन्य-मीश्वरोऽणुचैतन्यं जीवः, नित्यं ज्ञानादिगुणकत्वं अस्मदर्थत्वं चोभयत्र ज्ञानस्यापि ज्ञातृत्वं प्रकाशस्य रवेः प्रकाशकत्ववद-विरुद्धम्।' तत्रेश्वरः स्वतन्त्रः स्वरूपशक्तिमान्, प्रकृत्याद्यनु-प्रवेशनियमनाभ्यां जगद्विदधत्। भक्तिव्यङ्ग्य एकरसः प्रयच्छति चित्सुखं स्वरूपम्। जीवास्त्वनेकावस्था बहवः। परेशवैमुख्यात्तेषां बन्धस्तत्सान्मुख्यात्तु तत्स्वरूपतद्गुणावरणरूपद्विविधबन्धनिवृत्ति-स्तत्स्वरूपादिसाक्षात्कृतिरिति। एतेन जीवस्याणुत्वं चित्स्वरूपत्वं शुद्धाहङ्कारशुद्धचित्तशुद्धदेहविशिष्टत्वञ्च ज्ञापितम्। परेशवै-मुख्यात् बहिरङ्गभावाविष्टत्वाच्च शुद्धाहङ्कारगतशुद्धचित्त-स्याविद्यामलदूषणमपि सूचितम्। जीवस्य शुद्धस्वरूपे यत् शुद्धचित्तं तस्मिन्मायावरणरूपाऽविद्यामलदूषिते सति चित्तदर्पणस्य कार्याक्षमत्वं सुतरां घटते। ततः कारणात् स्वरूपयाथात्म्यदर्शनं न सम्भवति। किन्तु ह्लादिनीसारवृत्तिभूता भक्तिर्यदा प्रवर्त्तेत

तदा श्रवणानन्तरं श्रीकृष्णसङ्कीर्तनं प्रादुर्भूय सर्वाण्यविद्यामलानि दूरीकरोति। तदा प्रकटितशुद्धचित्तो जीवः शुद्धाहङ्कारयुक्तः परेशजीवप्रकृतिकालकर्मात्मकं पञ्चतत्त्वं स्वचित्तदर्पणे यथायथं पश्यतीति भावः। चित्तदर्पणे मार्जिते सति स्वरूपयाथार्थ्यदर्शनात् स्वधर्मदर्शनमपि घटते। स्वधर्मः भगवद्दास्यमिति। तत्प्रवृत्तौ संसारप्रवृत्तिस्तु कृष्णसेवाप्रवृत्तिरूपेण परिणमति। भवः जीवस्य प्रपञ्चजन्म। स एव महादावाग्निस्तन्निर्वापणं श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनं विना न भवेदिति भावः। स्वधर्मज्ञाने लब्धे सति श्रीकृष्णकीर्त्तनं किं समाप्यते? न हि न हि। हरिकीर्तनस्य नित्यधर्मत्वे सिद्धे तस्यैव स्वरूपगतधर्माङ्गत्वमिति वदन् श्रेयःकैरव-चन्द्रिकावितरणमिति विशेषणं व्यवहरति। मायामुग्धजीवानां मायाभोग एव प्रेयस्ततो दुर्निवारः संसारः। मायावैतृष्ण्यपूर्विका श्रीकृष्णसेवा तु तेषां श्रेयः। श्रेय एव कैरवं कुमुदं तत्प्रकाशिका भावचन्द्रिका तां वितरयति। "भक्त्या सञ्जातया भक्त्या" इति न्यायेन श्रद्धावतां श्रवणकीर्तनाद्याभासभक्त्या शुद्धभक्तिः प्रादुर्भवति। अत्र चन्द्रोपमा तु तन्निःसृतामृत-कल्पनयेति। ननु शुद्धभक्तिलब्धानां कदा स्वस्वरूपप्राप्तिरिति पूर्वपक्षमाकलय्य 'विद्यावधूजीवनम्' इति वदति श्रीगौरचन्द्रः। भगवच्छक्तिर्वस्तुतः एका। तस्या द्वे वृत्ती विद्याऽविद्या च। विद्यया सा योगमाया स्वरूपशक्तिरिति परिचीयते। अविद्यया सा जडप्रसविनी जीवस्वरूपगुणावरणकारिणी च। श्रवण-कीर्तनादिसाधनसमये यदा शुद्धाभक्तिरुदेति तदा स्वस्याऽविद्यत्वं परिहृत्य विद्यया चिदितरवितृष्णाजननी सापि जीवस्य

स्थूललिङ्गमयमौपाधिकदेहद्वयं विनाश्य तस्य स्वरूपगतं शुद्धचिद्देहं अधिकारभेदेन मधुररसास्वादनायतनं गोपिकादेहमपि प्रकटयति। अतः श्रीकृष्णसङ्कीर्तनस्य विद्यावधूजीवनत्वं सिद्धं भवति। स्वरूपशक्तेः श्रीकृष्णवधूत्वं लीलाविलासवर्णनादौ द्रष्टव्यम्। स्थूललिङ्गमयमायिकशरीरे गते सति जीवस्याणुत्वं निर्मलं भवति। तदा तस्य सुखमपि परमाणुस्वरूपत्वात् क्षुद्रं भवतीति पूर्वपक्षमाशङ्क्य श्रीशचीनन्दनः शिक्षयति 'आनन्दाम्बुधिवर्द्धनम्' इति। तदवस्थायां श्रीकृष्णसङ्कीर्तनं तस्य जीवस्य स्वाभाविकमानन्दं ह्लादिनीसारवृत्त्याऽऽन-न्त्येनसम्वर्द्धयति। शुद्धस्वरूपप्राप्तजीवोऽप्यनन्तानन्दं लभते इति भावः। तदवस्थायां चिदेकरसः सन् जीवः प्रतिपदं पदे पदे अनुरागेण पूर्णामृतास्वादनं लभते। नित्यनूतनविग्रहे भगवति तृष्णानिवृत्यभावात् नित्यनूतनरससम्भोगोऽपि घटनीयः। भोगचेष्टाया अपि शुद्धप्रेमविरोधित्वात् कथं तदवस्थायां निर्मलानन्दलाभः स्यादिति विचिन्त्य श्रीसन्न्यासिचूड़ामणिः 'सर्वात्मस्नपनम्' इति विशेषणं योजयति। तदवस्थायां कृष्णानन्दस्य नैर्मल्यात् स्वकामभोगादिवाञ्छारहितोऽयं जीवः स्वभावतो ह्लादिनीमहाभावमयीश्रीमतीराधिकापरिचारिकास्वरूपेण युगलविलासविषयान् सर्वानन्दान् समश्नुते। अत्र 'सर्वात्मस्नपनम्' इति पदद्वयेन मुक्तस्य सायुज्यान्तर्गतब्रह्मलयदोषाणां स्वीयकाम-सम्भोगादिदोषाणाञ्च सम्पूर्णधौतिरिति परिज्ञेयम्। एतत् सप्तगुणकं सच्चिदानन्दस्वरूपयुगलप्रेमविचित्रलीलापरं श्रीकृष्णस्य सङ्कीर्तनं विजयते विशिष्टतया सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते॥१॥

सन्मोदनभाष्यका अनुवाद

नमः ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञानकेशव इति नामिने॥

नमो भक्तिविनोदाय सच्चिदानन्दनामिने।
गौरशक्तिस्वरूपाय रूपानुगवराय ते॥

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥

अत्यन्त दीनहीन और सर्वतोभावेन अयोग्य होनेपर भी मदीय परमाराध्य नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीलभक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी, सन्मोदन-भाष्यकर्त्ता श्रीगौरसुन्दरके नित्यपरिकर श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर एवं 'श्रीशिक्षाष्टक' के मूल रचयिता कलियुगपावनावतारी श्रीनन्दनन्दनाभिन्नविग्रह श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके सर्वाभीष्टप्रद श्रीचरणकमलोंको हृदयमें धारणकर उन्हींकी कृपासे उनके ही मनोऽभीष्टकी पूर्तिके लिए 'श्रीसन्मोदनभाष्य' का भाषानुवाद करनेमें प्रवृत्त हो रहा हूँ।—**(अनुवादकका मङ्गलाचरण)**

सदासर्वदा पञ्च तत्त्वोंसे युक्त, श्रीनामप्रेमप्रदाता स्वयं भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुके श्रीचरणारविन्दोंमें प्रणतिपूर्वक उनके श्रीमुखविगलित 'श्रीशिक्षाष्टक' का 'सन्मोदन' नामक भाष्य लिख रहा हूँ। संसारचक्रमें पड़े हुए भगवद्विमुख जीवोंका कल्याण कैसे हो—इसके लिए भगवत्-तत्त्वके

ज्ञाता श्रीब्रह्माजी बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने एकाग्र चित्तसे सारे वेदोंका तीन बार अनुशीलन करके अपनी बुद्धिसे यही निश्चय किया कि जिससे सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम प्राप्त हो, वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। श्रीमद्भागवतके इस सिद्धान्तसे यही सिद्ध होता है कि जीवोंके लिए एकमात्र भगवद्भक्ति ही परमार्थप्रद परम धर्म है। कर्म, ज्ञान, योग और तपस्या आदि दूसरे साधनसमूह परमार्थप्रद परमधर्म नहीं हैं। किन्तु यह भक्ति सुदुर्लभा है। केवलमात्र पारमार्थिकी श्रद्धा द्वारा ही सुलभ है। पारमार्थिकी श्रद्धा दो प्रकारकी होती है—(१) शास्त्रोंके शासनयुक्त वचनोंसे प्रेरित होकर भक्तिमार्गमें प्रवृत्त करानेवाली **शास्त्रार्थावधारणामयी श्रद्धा** और (२) भगवल्लीलामाधुर्यके श्रवण आदिसे किसी विशेष सौभाग्यवश उत्पन्न लोभ हेतु भक्तिमें प्रवृत्त करानेवाली **भगवल्लीलामाधुर्यलोभमयी श्रद्धा**। इन दोनोंमेंसे कोई भी एक श्रद्धा उत्पन्न होनेपर निर्मल सत्सङ्गमें निरन्तर श्रवणकीर्त्तनरूप शुद्ध हरिकथासेवनके द्वारा ही शुद्धाभक्ति उदित होती है। यदि सत्सङ्गमें नियमित रूपसे हरिकथाका सेवन न किया जाये तो उक्त श्रद्धा क्रमशः क्षीण होकर नष्ट हो जाती है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने स्वयं कहा है—सत्सङ्गमें मेरी महिमाका प्रकाशक हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली जो कथाएँ होती हैं, उनका प्रीतिपूर्वक सेवन करनेसे शीघ्र ही अविद्या दूर हो जाती है तथा मेरे प्रति क्रमशः श्रद्धा, रति और प्रेमाभक्ति उदित होती है। अतः सत्सङ्गमें भगवान्के नाम,

रूप, गुण और लीलाओंका श्रद्धापूर्वक सेवन करनेसे ही शुद्ध सङ्कीर्त्तन सम्भव है, अन्यथा नहीं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षामें सर्वप्रथम उस शुद्ध सङ्कीर्त्तनकी ही महिमा कही गयी है। श्रीकृष्णकीर्त्तन सर्वमङ्गलस्वरूप होनेके कारण मूल श्लोकके चौथे चरणमें जो 'परं' शब्द उल्लिखित है, उसके द्वारा सर्वप्रथम श्रद्धा, तत्पश्चात् सत्सङ्ग और उसके पश्चात् भजनक्रियाके अन्तर्गत शुद्ध श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनको ही लक्ष्य किया गया है। यहाँपर प्रतिबिम्ब भक्त्याभासके अन्तर्गत हरिकीर्त्तनसे तात्पर्य नहीं है। इस शिक्षाष्टकमें करुणावरुणालय श्रीचैतन्य महाप्रभुजी जीवोंको सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वोंका बोध करानेके लिए स्वयं एक भक्तिसाधककी भाँति श्रीकृष्णस्वरूप श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनकी महिमाका गान कर रहे हैं। इस भाष्यमें उसी सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वके विषयमें संक्षेपमें विचार किया जा रहा है।

शुद्ध वैष्णवोंके द्वारा जिनके श्रीचरणकमलोंकी सर्वतोभावेन निरन्तर सेवा होती है, वे सर्वेश्वरेश्वर श्रीचैतन्य महाप्रभुजी कहते हैं—'परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्' अर्थात् केवल श्रीकृष्णकीर्त्तन ही सर्वतोभावेन सर्वोपरि जययुक्त हों। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मायाशक्ति द्वारा रचित इस जड़-जगत्में मायातीत अप्राकृत श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन कैसे सर्वोपरि जययुक्त हो सकते हैं? हाँ, इस मायिक जड़जगत्में भी

श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन सर्वोपरि जययुक्त हो सकते हैं। वह किस प्रकार, श्रवण करें। 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस श्रुतिमन्त्रसे परमतत्त्वका एकत्व; 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' (केवल अद्वय ब्रह्मके अतिरिक्त उनसे सम्पूर्ण पृथक् नानारूप कुछ भी नहीं है)—इस श्रुतिमन्त्रसे उनका निर्विशेषत्व और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्मस्वरूप है)—इस श्रुतिमन्त्रसे उनका नित्य सविशेषत्व प्रतिपादित होता है। अतः श्रुतियोंके अनुसार परमतत्त्व एक ही साथ सविशेष और निर्विशेष—दोनों ही हैं। किन्तु ऐसा होनेपर भी निर्विशेषत्वकी कोई उपलब्धि नहीं होनेसे—उसका अभाव रहनेसे और केवल सविशेषत्वकी ही सदासर्वदा उपलब्धि होनेसे सविशेषतत्त्व ही प्रधान एवं श्रेष्ठ है। हमारे तत्त्वाचार्य श्रीलजीव गोस्वामीजी कहते हैं कि एक ही परमतत्त्व अपनी स्वाभाविकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे स्वरूप, तद्रूपवैभव, जीव और प्रधान (प्रकृति)—इन चारों रूपोंमें सदा-सर्वदा विद्यमान रहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे सूर्यके अन्तर्गत मण्डलस्थित तेज, मण्डल, मण्डलसे बहिर्गत रश्मिपरमाणु और उसकी प्रतिबिम्बरश्मि—इन चार रूपोंमें एक ही सूर्य अवस्थित हैं। उपरोक्त तत्त्वको और भी स्पष्ट किया जा रहा है—षडैश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं। वे सर्वशक्तिमान हैं। 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः'—इस ब्रह्मसूत्रके अनुसार शक्ति और शक्तिमान अभिन्न हैं। किन्तु एक ही पराशक्ति विविध रूपोंमें

श्रुतिगोचर होती है। इस वेदमन्त्रसे यह सिद्ध होता है कि वह अचिन्त्यशक्ति अघटनघटनपटीयसी भी है अर्थात् असम्भवको भी सम्भव करनेवाली है। अतएव शक्ति और शक्तिमानमें नित्यभेद भी अनिवार्य है; इस सिद्धान्तसे केवलाद्वैतवादियोंका यह मत कि 'ब्रह्म निर्विशेष, निःशक्तिक, निराकार आदि है'—अशास्त्रीय और युक्तिविरुद्ध है। उपर्युक्त एक पराशक्ति ही अन्तरङ्गा, तटस्था और बहिरङ्गा—इन तीन रूपोंमें प्रकाशित है। अन्तरङ्गा स्वरूपशक्तिके द्वारा वे परमतत्त्व अपने पूर्ण स्वरूपमें—सर्वदोषविवर्जित परम मङ्गलमय निखिल अप्राकृत गुणोंके आधार भगवान्के रूपमें नित्य विराजमान रहते हैं। साथ ही अपनी लीलाका सम्पादन करनेके लिए अपनी उसी आनुकूल्यमयी स्वरूपशक्तिके द्वारा तद्रूपवैभव अर्थात् वैकुण्ठ आदि धाम, परिकर एवं नारायण आदि भगवत्-स्वरूपोंमें नित्य अवस्थित हैं। पुनः वे ही परमतत्त्व केवलमात्र तटस्थाशक्तिसे युक्त अपने विभिन्नांशस्वरूप असंख्य चित् परमाणुओं—जीवोंके रूपमें विद्यमान हैं। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंमें असंख्य क्षुद्र-क्षुद्र परमाणु झिलमिल करते रहते हैं, उसी प्रकार भगवान्की तटस्था-शक्तिरूपी किरणोंमें (तटस्थाशक्ति-परिणत) असंख्य-असंख्य अणुचित् जीवसमूह नित्य विद्यमान हैं। जैसे रश्मिगत सूक्ष्म परामाणुओंका सूर्यसे पृथक् स्वतन्त्र रूपमें कोई अस्तित्व नहीं है एवं वे परमाणु कदापि सूर्य नहीं हैं;

उसी प्रकार अणुचित् जीवोंका भी भगवान्‌से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है एवं वे कदापि भगवान् नहीं कहे जा सकते हैं और न हो सकते हैं। पुनः परमतत्त्व भगवान् तदीय बहिरङ्गा मायाशक्तिके द्वारा तदीय बहिरङ्ग वैभवरूप इस सम्पर्ण जड़जगत्‌को प्रकट किये हुए हैं। यह जड़जगत्—मायाशक्ति अर्थात् प्रधानकी ही परिणति है। जैसे सूर्य-रश्मियाँ प्रतिबिम्बित होकर रङ्ग-बिरङ्गे इन्द्रधनुषकी सृष्टि करती हैं, ठीक उसी प्रकार मायाशक्ति या प्रधान इस विचित्र जड़जगत्‌को प्रकट करती है। जड़जगत्—अन्तरङ्गाशक्ति द्वारा प्रकटित चित्-जगत्‌की छाया है। अतः जड़जगत् भी परमतत्त्वसे पृथक् नहीं है।

इस प्रकार जीव, जड़जगत् और वैकुण्ठगत तद्रूप वैभवका भगवत्-स्वरूपसे भेद और अभेद—अचिन्त्य भेदाभेद दोनों ही सिद्ध हैं। अणुचित् जीव भगवान्‌के आश्रित होनेसे उनके विभिन्नांश हैं। पुनः वे भगवत्-ज्ञानके अभावमें बहिर्मुख हो जाते हैं—यही उनमें भेद है।

जैसे (बादलोंकी) छायासे सूर्य-रश्मियाँ आच्छादित हो जाती हैं, उसी प्रकार जीवसमूह भी माया (अविद्या) द्वारा आच्छादित हो पड़ते हैं। अघटन-घटन-पटीयसी भगवान्‌की तटस्थाशक्तिसे प्रकटित अणुचित् जीव भगवान्‌की लीलाके उपकरण होनेके कारण जड़मायाके द्वारा आच्छादित होते हैं; अन्यथा चिन्मय जीव जड़मायाके द्वारा कैसे आवृत हो सकते हैं? तटस्थाशक्तिसे प्रकटित होनेके कारण

जीवका स्वभाव भी तटस्थ होता है अर्थात् सेवासुख प्राप्त कर सकते हैं और दूसरी ओर मायिकभोगोंकी कामना करनेपर माया द्वारा आच्छादित भी हो सकते हैं। परन्तु स्वरूपशक्तिसे सम्बन्धयुक्त होनेपर अविद्या नामक मायाशक्ति दूर हो जाती है, फलस्वरूप संसार-दशासे मुक्त होकर जीव अपने शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित हो जाते हैं।

मायामुग्ध जीव सांसारिक क्लेशोंसे पुनः-पुनः जर्जरित होता है। जब वह इन क्लेशोंसे ऊबकर सौभाग्यवश सत्सङ्गका सेवन करता है; तब उसका शास्त्रोंका एकमात्र तात्पर्य भगवद्भक्तिके प्रति विश्वास अथवा भगवान्‌के माधुर्यके प्रति लोभ उत्पन्न होता है। उस समय उसे स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनीसारवृत्तिस्वरूप भक्तिमें अधिकार प्राप्त होता है। श्रद्धाके उत्पन्न होनेपर सर्वप्रथम श्रीगुरु-चरणाश्रय (हरिनाम-दीक्षाग्रहण) होता है, अनन्तर श्रीगुरुदेव और शुद्ध वैष्णवोंके सत्सङ्गमें तत्त्व-श्रवणका सुयोग प्राप्त होता है, तत्पश्चात् जब श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका कीर्त्तन होने लगता है, उस समय माया-दमनकी प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है अर्थात् अविद्या और अनर्थ दूर होने लगते हैं; साथ ही जीवका शुद्ध-स्वरूप भी निर्मल होने लगता है। प्रापञ्चिक जगत्‌में हरिकीर्त्तनके विजयकी यही प्रक्रिया है—इसी पद्धतिसे हरिकीर्त्तनका इस मायिक जगत्‌में अवतरण होता है। इस प्रणालीसे किये गये हरिकीर्त्तनसे ही जीवको सात

प्रकारके सुफल प्राप्त होते हैं। वे सात प्रकारके फल पहले श्लोकमें 'चेतोदर्पणमार्जन' इत्यादिके द्वारा कहे गये हैं। उनका पृथक्–पृथक् रूपमें विवेचन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

'चेतोदर्पणमार्जनं' इत्यादि द्वारा जीवके स्वरूपतत्त्वका बोध कराया गया है। इस विषयमें श्रीजीवगोस्वामीका सिद्धान्त यह है कि "जीव नामक समष्टिशक्तिसे युक्त परमतत्त्वका एक क्षुद्र अंश ही जीव कहलाता है। सूर्यके भीतरी तेजःपुञ्जसे बहिर्गत रश्मि–परमाणुओंकी भाँति जीवसमूह अखण्ड–चिन्मय–रसविग्रह, सर्वदा स्वरूपमें स्थित परमतत्त्वसे बहिर्गत चित् परमाणु हैं।" वेदान्तसूत्रके श्रीगोविन्द–भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी ऐसा विचार प्रकट किया है—ईश्वर विभुचैतन्य हैं और जीव अणुचैतन्य हैं; ईश्वरमें अखिल कल्याणकारी अनन्त सद्‌गुण नित्य विराजमान रहते हैं, उनमें मैं–पन रूपी निर्मल अहङ्कार रहता है, वे ज्ञानस्वरूप और ज्ञातास्वरूप दोनों हैं; उसी प्रकार जीवोंमें भी आंशिक गुणसमूह और शुद्ध अहङ्कार होता है तथा ये भी ज्ञानस्वरूप और ज्ञातास्वरूप हैं। ऐसा होना युक्तिविरुद्ध नहीं है; क्योंकि सूर्यमें प्रकाश और तापदान आदि जो गुण देखे जाते हैं, सूर्य रश्मियों (परमाणुओं) में भी वे गुणसमूह देखे जाते हैं। इनमें ईश्वर स्वतन्त्र हैं, एक हैं, स्वरूपशक्तिमान हैं। प्रकृति आदिमें अनुप्रवेशपूर्वक उनका नियमन करते हुए

जगत्‌की रचना करते हैं, उसे धारण करते हैं, चिन्मय सुखकी घनमूर्त्ति हैं, सदासर्वदा स्वस्वरूपमें अवस्थित रहनेवाले तथा भक्तिके द्वारा प्रेमरसको देनेवाले—उसका रसास्वादन करानेवाले हैं; परन्तु जीव असंख्य हैं, वे बद्ध और मुक्त अनेक अवस्थाओंवाले हैं, परमेश्वरसे विमुख होनेपर बद्ध हो जाते हैं, पुनः परमेश्वरके प्रति उन्मुख होनेपर जीवोंके शुद्ध-स्वरूप और गुणोंको आवृत करनेवाली मायाका आवरण हट जाता है, तदनन्तर उन्हें स्वस्वरूपका साक्षात्कार होता है। इस सिद्धान्तसे यह स्पष्ट है कि जीव अणुचित् हैं; उनका एक चिन्मय स्वरूप है और वे शुद्ध अहङ्कार (मैं-पन), शुद्ध चित्त और शुद्ध शरीरवाले हैं। भगवत्-विमुख होनेपर बहिरङ्ग मायिक विषयोंके प्रति भावाविष्ट होनेपर उनका शुद्ध अहङ्कार और शुद्ध चित्त अविद्यारूपी मलसे मलिन हो जाते हैं। यहाँ चित्तकी तुलना दर्पणसे की गयी है। जैसे धूलि द्वारा आच्छादित मलिन दर्पणमें अपना मुख नहीं देखा जाता, उसी प्रकार अविद्यारूपी मल द्वारा मलिन हुए चित्तमें स्वस्वरूपका यथार्थ रूपमें दर्शन नहीं होता। ह्लादिनीसार-वृत्तिस्वरूप भक्तिका साधन जब प्रारम्भ होता है, तब श्रवणके अनन्तर श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन स्वयं प्रादुर्भूत होकर अविद्यारूपी मलको सम्पूर्ण रूपसे धो देते हैं। उस समय जीवका शुद्ध अहङ्कारसे युक्त विशुद्ध चित्त उदित हो पड़ता है; जिससे वह अपने शुद्ध चित्तरूपी दर्पणमें

ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—इन पाँच तत्त्वोंका यथार्थ रूपमें दर्शन करने लगता है। चित्त-दर्पणके निर्मल होनेपर यथार्थतः स्वस्वरूप-दर्शन और उससे स्वधर्मका दर्शन सम्भव होता है। भगवत्-दास्य—भगवत्-सेवा ही जीवका स्वधर्म है। भगवत्-सेवामें तत्पर होनेसे संसार-प्रवृत्ति कृष्णसेवा-प्रवृत्तिके रूपमें परिणत हो जाती है। जीवका इस संसारमें पुनः-पुनः जन्म लेना ही 'भव' शब्दका तात्पर्य है। पुनः-पुनः जन्म और मरण ही महादावाग्निस्वरूप है। यह महादावाग्नि श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनके अतिरिक्त और किसी भी उपायसे बुझ नहीं सकती है। यहाँ प्रश्न हो सकता है—क्या स्वधर्मज्ञानकी उपलब्धि होनेपर श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन बन्द हो जाता है? नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता। हरिसङ्कीर्त्तन जीवका नित्यधर्म है। यहाँ उस स्वरूपगत नित्यधर्मकी नित्यताका बोध करानेके लिए ही 'श्रेयःकैरव-चन्द्रिकावितरणकारी' इस विशेषण-पदका प्रयोग किया गया है। मायाग्रस्त जीवोंके लिए मायाभोग ही प्रेयः (प्रार्थनीय) होता है, उसीसे उनका अनिवार्य संसाररूपी जन्म और मरणका चक्कर तथा त्रिताप-भोग उपस्थित होता है। इसके ठीक विपरीत मायाके प्रति विरक्त होकर श्रीकृष्णसेवामें सदा-सर्वदा तत्पर रहना ही श्रेयः है। यह श्रेयः ही कुमुदिनी है। जिस प्रकार चन्द्र अपनी स्निग्ध चन्द्रिका (ज्योत्स्ना) द्वारा कुमुदिनीको प्रस्फुटित करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन अपनी भावरूपिणी चन्द्रिकाका

वितरण करके जीवोंकी कल्याणरूपी कुमुदिनीको विकसित करते हैं। "भक्ति द्वारा भक्ति उत्पन्न होती है"—इस सिद्धान्त वचनके अनुसार पहले-पहले श्रवण-कीर्त्तन आदि आभास भक्तिका पुनः-पुनः साधन करनेसे श्रद्धालु जीवोंके हृदयमें शुद्धाभक्तिका प्रादुर्भाव होता है। यहाँ श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनकी उपमा चन्द्रसे दी गयी है। जैसे चन्द्रसे अमृतस्वरूप ज्योत्स्ना निकलकर कुमुदिनी पुष्पको विकसित करती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनसे ह्लादिनीसारवृत्ति भाव या रति जीवोंके हृदयमें उदित होती है तथा उससे सब प्रकारके कल्याणोंका विकास होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जिन्हें शुद्धाभक्ति प्राप्त हो चुकी है, उन्हें अपने शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति कब होगी? श्रीशचीनन्दन गौरचन्द्र इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं—'विद्यावधूजीवनम्'। वास्तवमें भगवान्‌की एक ही शक्ति है। उसकी दो वृत्तियाँ हैं—विद्या और अविद्या। योगमाया—स्वरूपशक्ति ही विद्या है और जड़जगत्-सृष्टिकारिणी, जीवके स्वरूप एवं स्वरूपसम्बन्धी गुणोंका आवरणकारिणी महामाया ही अविद्या है। श्रवण-कीर्त्तन करते-करते जिस समय साधकजीवके हृदयमें शुद्धाभक्तिका उदय होता है, उस समय भगवत्-सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य कामना-वासानाओंको दूर करनेवाली भक्तिदेवी उक्त अविद्याको दूर हटाकर विद्यावृत्तिके द्वारा जीवके स्थूल और लिङ्गमय दोनों देहों (आवरणों) को विनष्ट

कर देती हैं। साथ-ही-साथ जीवके स्वरूपगत शुद्ध चिन्मय शरीरको—यहाँ तक कि अधिकार भेदसे मधुररस आस्वादनयोग्य शुद्ध चिन्मय गोपीदेह तक को भी प्रकट करा देती हैं। अतः श्रीकृष्णकीर्त्तन विद्यारूपिणी वधूके जीवनस्वरूप हैं—यह सिद्ध हुआ। श्रीकृष्णके लीलाविलास-वर्णनके प्रसङ्गमें स्वरूपशक्तिका श्रीकृष्ण-वधूत्व द्रष्टव्य है।

स्थूल-लिङ्गमय मायिक देह सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट हो जानेपर जीवका अणुत्व निर्मल हो जाता है। उस समय जीवका स्वरूप अणु (क्षुद्र) होनेसे उसका स्वरूपगत सुख भी क्षुद्र ही होना चाहिये, इस आशङ्काको दूर करनेके उद्देश्यसे श्रीचैतन्य महाप्रभु शिक्षा देते हैं—'आनन्दाम्बुधिवर्द्धनम्' अर्थात् उस अवस्थामें श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन ह्लादिनीसारवृत्तिके द्वारा जीवके स्वाभाविक आनन्दको अनन्त अपरिसीम रूपमें सम्वर्द्धित करते हैं अर्थात् शुद्धस्वरूप-प्राप्त जीव इस दशामें अपरिसीम आनन्द लाभ करते हैं। उस दशामें जीव चिन्मय एकरस होकर अर्थात् दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इनमेंसे किसी एक रसमें नित्य स्थित होकर नव-नवायमान अनुरागके द्वारा पग-पगपर पूर्णामृतका रसास्वादन करते हैं। भगवान्‌की रूपमाधुरी, गुणमाधुरी और लीलामाधुरी आदि नित्यनवीन होती हैं। प्रेमी जीव उन माधुरियोंके निरन्तर पान करते रहनेपर भी सदा अतृप्त बने रहते हैं; अतः वे नित्यनवीन रूपमें उन

माधुरियोंका निरन्तर पान करते हैं। यहाँ यह आशङ्का होती है कि स्वसुखभोगकी चेष्टा या लालसा तो विशुद्ध प्रेमका विरोधी है, फिर उस अवस्थामें जीव जब नित्यनवीन प्रेमानन्दका भोग करते हैं, तब स्वसुखभोग रहनेके कारण उसे निर्मल प्रेमानन्द कैसे कहा जा सकता है? इस आशङ्काको मानो दूर करनेके लिए ही संन्यासी चूड़ामणि श्रीचैतन्य महाप्रभुने 'सर्वात्मस्नपनकारी' इस विशेषण पदका प्रयोग किया है। उस अवस्थामें कृष्णानन्द सम्पूर्ण निर्मल होनेसे स्वसुखभोग आदि कामनाओंसे रहित जीव स्वाभाविक रूपमें ह्लादिनीसार महाभावमयी श्रीमती राधिकाकी परिचारिकाके रूपमें युगलविलास सम्बन्धी सम्पूर्ण आनन्दका भोग—रसास्वादन करते हैं। इसलिए उनमें प्रेम-विरोधी कामकी गन्ध तक रहनेकी सम्भावना नहीं होती। यहाँ 'सर्वात्म स्नपनम्' इन दो पदोंके प्रयोगसे सायुज्य मुक्तिके अन्तर्गत ब्रह्ममें लय होनेके दोषों तथा स्वसुख भोगके दोषोंसे सर्वथा रहित परम निर्मलताका बोध होता है। इस प्रकार सप्तगुण विशिष्ट सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीराधाकृष्ण-युगलप्रेमविचित्रलीलापर श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन विशेष रूपसे सर्वोपरि जययुक्त हों॥१॥

श्रीचैतन्यचरितामृत

नाम सङ्कीर्तने हय सर्वानर्थनाश।
सर्वशुभोदय कृष्णप्रेमेर उल्लास॥

सङ्कीर्तन हैते पाप-संसार नाशन।
चित्तशुद्धि, सर्वभक्तिसाधन-उद्गम॥

कृष्ण प्रेमोद्गम, प्रेमामृत-आस्वादन।
कृष्णप्राप्ति, सेवामृतसमुद्रे मज्जन॥
(चै॰ च॰ अ॰ २०/११, १३, १४)

श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनसे समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं, चित्त निर्मल हो जाता है, जन्म-जन्मान्तरके पाप और उससे प्राप्त पुनः-पुनः जन्म-मृत्युरूप संसार नष्ट हो जाते हैं, सर्वप्रकारके कल्याण उदित हो जाते हैं, प्रेमा-भक्तिके सभी साधनोंका सञ्चार होने लगता है, कृष्णप्रेमका उदय होता है, प्रेमामृतका रसास्वादन होने लगता है, श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है और अन्तमें सेवामृतरूपी समुद्रमें सम्पूर्ण रूपसे अवगाहन द्वारा सुशीलता और निर्मलता प्राप्त होती है।

श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित

कीर्त्तन-पद

पीतवरण कलिपावन गोरा।
गावई ऐछन भाव-विभोरा॥

चित्त-दर्पण-परिमार्जनकारी।
कृष्णकीर्त्तन जय चित्तविहारी॥

हेलाभवदाव-निर्वापणवृत्ति।
कृष्णकीर्त्तन जय क्लेशनिवृत्ति॥

श्रेयः कुमुदविधुज्योत्स्ना–प्रकाश।
कृष्ण कीर्त्तन जय भक्ति–विलास॥

विशुद्ध विद्यावधू–जीवन रूप।
कृष्ण–कीर्त्तन जय सिद्धस्वरूप॥

आनन्दपयोनिधि वर्धनकीर्त्ति।
कृष्णकीर्त्तन जय प्लावनमूर्त्ति॥

पदे–पदे पीयूषस्वाद प्रदाता।
कृष्णकीर्त्तन जय प्रेम विधाता॥

भक्तिविनोद–स्वात्मस्नपन विधान।
कृष्णकीर्त्तन जय प्रेम निदान॥

गीतावली

नाम–साधन सुलभ क्यों है?

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति–
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥२॥

अन्वय—(हे) भगवन्! नाम्नां बहुधा अकारि (आप अहैतुकी कृपापरवश होकर जीवोंके कल्याण हेतु 'कृष्ण' 'गोविन्द' आदि अनेक नामोंके रूपमें प्रकाशित हैं) तत्र (उन सभी नामोंमें) निजसर्वशक्तिः अर्पिता (अपने उन–उन स्वरूपोंकी सर्वशक्तियोंको निहित किया है) स्मरणे काल अपि न नियमितः (अथच नाम–स्मरणमें सन्ध्या–वन्दना आदिकी भाँति निर्दिष्ट काल आदिका विचार नहीं रखा है अर्थात् दिन–रात किसी भी समय भगवन्नामका स्मरण–कीर्त्तन किया जा सकता है—ऐसा विधान दिया है) तव एतादृशी कृपा (आपकी तो ऐसी कृपा है) मम ईदृशं दुर्दैवम् (किन्तु मेरा नामापराधरूप दुर्दैव ऐसा है कि) इह (ऐसे सुलभ सर्वफलप्रद हरिनाममें) अनुरागः न अजनि (अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ)॥२॥

अनुवाद—हे भगवन्! आपके नाम ही जीवोंके लिए सर्वमङ्गलप्रद हैं, अतः जीवोंके कल्याण हेतु आप अपने राम, नारायण, कृष्ण, मुकुन्द, माधव, गोविन्द, दामोदर

आदि अनेक नामोंके रूपमें नित्य प्रकाशित हैं। आपने उन नामोंमें उन-उन स्वरूपोंकी सर्वशक्तियोंको स्थापित किया है। अहैतुकी कृपा हेतु आपने उन नामोंके स्मरणमें सन्ध्या-वन्दना आदिकी भाँति किसी निर्दिष्टकाल आदिका विचार भी नहीं रखा है अर्थात् दिन-रात किसी भी समय भगवन्नामका स्मरण-कीर्त्तन किया जा सकता है—ऐसा विधान भी बना दिया है। हे प्रभो! आपकी तो जीवोंपर ऐसी अहैतुकी कृपा है, तथापि मेरा तो नामापराधरूप ऐसा दुर्दैव है कि आपके ऐसे सर्वफलप्रद सुलभ नाममें भी अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ॥२॥

सन्मोदनभाष्यम्—तत्र नाम-रूप-गुण-लीलाभेदेन श्रीकृष्ण-कीर्त्तनमपि चतुर्विधम्। नाम्नो हि सर्वानन्दबीजत्वे नामनामिनोर-भेदत्वे च नामकीर्त्तनस्य सर्वोपादेयत्वं दर्शयन्नादौ भगवन्नाम्नि जीवानां श्रद्धोत्पत्तिकरणेच्छया भगवत-श्चैतन्यदेवस्योक्तिः—हे भगवन्! मां निराश्रयं दृष्ट्वा परमकारुणिकेन भवता मुख्य-गौणभेदेन स्वनामानि बहुधा प्रकाशितानि। हरि-कृष्ण-गोविन्द-अच्युत-राम-अनन्त-विष्णु-इत्यादिमुख्यनामानि। ब्रह्म-परमात्मा-नियन्ता-पाता-स्रष्टा-महेन्द्रेत्यादिगौणनामानि। पुनश्च निजसर्वशक्तिः स्वरूपशक्तेः समस्तसामर्थ्यं तत्र मुख्यनाम्नि भवतार्पिता। तद् यथा—

नहि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयम्।
यन्नाम सकृच्छ्रवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्॥(क)

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/४४)

वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः।
तावन्ति हरिनामानि कीर्त्तितानि न संशयः॥(ख)

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदाऽप्यथर्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥(ग)

(विष्णुधर्मोत्तर)

मा ऋचो मा यजुस्तात मा साम पठ किञ्चन।
गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः॥(घ)

(स्कन्दपुराण)

अवमन्य च ये यान्ति भगवत्कीर्तनं नराः।
ते यान्ति नरकं घोरं तेन पापेन कर्मणा॥(ङ)

(पद्मपुराण, वैशाखमाहात्म्य)

एतिन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥(च)

(श्रीमद्भा॰ २/१/११)

आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे। ओमित्येतद्ब्रह्मणोपदिष्टं नाम यस्मादुच्चार्यमाणमेव संसारभयात्तारयति। तस्मादुच्यते तारः।(छ)

हरिभक्तिविलास (११/५१२) ऋग्वेद वचन (१/१५६/३)

सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धःपरिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥(ज)

(पद्मपुराण, उत्तर खण्ड, ४६वाँ अध्याय)

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥(झ)
(श्रीमद्भा॰ २/३/२४)

मधुरमधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥(ञ)
(हरिभक्तिविलास धृत प्रभासखण्डवचन ११/४५१)

गीत्वा च मम नामानि विचरेन्मम सन्निधौ।
इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन॥(ट)

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥(ठ)
(भक्तिरसामृतसिन्धु पू॰ वि॰ २/१०८)

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥(ड)
(पद्मपुराण)

—इत्यादि श्रुति–स्मृति–तन्त्रवाक्येन नाम्नः सर्वशक्तित्वं ज्ञापितम्। कर्मज्ञानादिसाधने कालदेशपात्रादिनियमो बलवान्। किन्तु तव नामस्मरणे तत्तन्नियमोऽपि न कृत इति नामविषयेऽपारकृपा मां प्रति भवता दर्शिता। परन्तु मम दुर्दैववशात् भवन्नाम्नि ममानुरागो न अजनि। दुर्दैवमत्र नामापराधः, एतदुक्तं भवति। भगवद्बहिर्मुखो जीवो माया–

निर्मितविश्वे नानाविधविषयव्यापारे बद्धः। कदाचिदपि भगवत्सान्मुख्यं प्रति न चेष्टते। परमेश्वरस्तु कर्मज्ञानादिविधिना जीवस्य नित्यमङ्गलं न भवतीति विचिन्त्यापारकरुणया स्वीय स्वरूपशक्तेर्ह्लादिनीसारवृत्तिभूतां भक्तिं जीवहृदये प्रकटयितुं तल्लाभोपायस्वरूपाणि स्वनामानि प्रकाशितवान्। परन्तु श्रुत्वापि तन्नाममाहात्म्यं, जप्त्वाऽपि तन्नामानि नामापराधव-शतस्तत्रानुरागः शीघ्रं जीवस्य न भवति। एतेन श्रद्धावतां गुरुमुखान्नामश्रवणानन्तरं सर्वदैव नामापराधान् परिहृत्य यथासाध्यं नामकीर्त्तनमेव कर्त्तव्यमिति सूचितम्।

अपराधाश्चैते—सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते। यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्॥ शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादिसकलम्। धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥ गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं, तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्। नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥ धर्मव्रतत्यागहुतादिकर्म शुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः। अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥ श्रुत्वाऽपि नाममाहात्म्यं यः प्रीतिरहितोऽधमः। अहं ममादि-परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥ (पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ४८ अ०) नामजपपराणां कर्मान्तर्गत-पापत्यागपुण्यसञ्चयचेष्टा न कर्त्तव्या, तेषां श्रद्धावतां कर्माधिकारशून्यत्वात् किन्तु ते यदि नामापराधयुक्ता भवन्ति तर्हि तदपराधहानाय तेषां या व्याकुलता तयाऽविश्रान्तिप्रयुक्तानि कृष्णनामानि तत्तदपराधावसरविनाशेन निसर्गतया तेषां हृदयं

तदपराधशून्यं करोति। शास्त्रवाक्यं यथा—नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यधम्। अविश्रान्ति प्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥ (पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ६४ अ०) इति। यदा नामापराधाभावात् हरिनाम्न्यनुरागो जायते, तदा तेषां सर्वार्थसिद्धिरित्युपदिष्टम्॥२॥

नाम, रूप, गुण और लीलाके भेदसे उक्त श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन भी चार प्रकारके हैं। श्रीकृष्णनाम सब प्रकारके आनन्दके मूल बीजस्वरूप हैं, श्रीनाम और श्रीनामी एक, अभिन्न तत्त्व हैं। श्रीकृष्णनामसङ्कीर्त्तन ही सबके लिए सब प्रकारसे सर्वाधिक उपादेय हैं। इसलिए स्वयंभगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु कृष्णनामसङ्कीर्त्तनकी परम उपादेयता प्रदर्शित करते हुए भगवन्नाममें जीवोंकी श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिए कहते हैं—हे भगवन्! हे परम करुणामय! आपने मुझे सब प्रकारसे निराश्रय देखकर अहैतुकी कृपापरवश होकर अपनेसे अभिन्न अपने नामोंको मुख्य और गौणभेदसे अनेक प्रकारसे प्रकाशित कर रखा है। उनमें हरि, कृष्ण, गोविन्द, अच्युत, राम, अनन्त और विष्णु आदि मुख्य नाम हैं। ब्रह्म, परमात्मा, नियन्ता, पाता, स्रष्टा, महेन्द्र आदि गौण नाम हैं। पुनः आपने अपनी स्वरूपशक्तिकी सारी शक्ति एवं सम्पूर्ण सामर्थ्यको अपने मुख्य नामोंमें भर दिया है। विविध शास्त्रोंके वचन इसके प्रमाण हैं—

(क) भगवन्! आपके दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके सारे पाप क्षीण हो जाते हैं, यह कोई असम्भव बात नहीं है;

क्योंकि आपका नाम एक बार श्रवण करनेसे ही नीच चाण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है।

(ख, ग, घ) द्विजोंके द्वारा जिस परिमाणमें वेदाक्षरोंका पाठ होता है, उतने ही परिमाणमें उनका (गौण रूपमें) हरिनामका कीर्त्तन करना ही होता है, इसमें कोई संशय नहीं है; किन्तु जिन्होंने 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, तो उनके द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—सबका पाठ हो गया, समझना चाहिये। इसलिए ऋक्, यजुः, साम और अथर्व आदि कुछ भी पाठ मत करो; केवलमात्र 'गोविन्द' इस नित्य गेय हरिनामका ही सदा-सर्वदा कीर्त्तन करो।

(ङ) जो लोग भगवत्कीर्त्तनकी अवज्ञा करते हैं, वे लोग उस पाप-कर्मसे घोर नरकमें पतित होते हैं।

(च) हे राजन्! जो लोग संसारमें दुःखका अनुभव करके उससे विरक्त, ऐकान्तिक भक्त हैं, जो स्वर्ग और मोक्षकी कामना रखते हैं एवं जो आत्माराम योगी पुरुष हैं, उन सबके लिए समस्त शास्त्रों एवं पूर्वाचार्योंका यही मत है कि वे भगवान्के नामोंका प्रेमसे सङ्कीर्त्तन करें।

(छ) हे विष्णो! आपका नाम चित्स्वरूप है। इसलिए वह स्वप्रकाशरूप है। अतः नामोच्चारणकी महिमाका भलीभाँति ज्ञान नहीं रहनेपर भी यदि थोड़ी-सी भी महिमा जानकर हम लोग श्रीभगवान्के नामोंका उच्चारण और सङ्कीर्त्तन करें, तो हम लोग तद्विषयक सम्पूर्ण ज्ञान

लाभ करेंगे। ‘ॐ’ इस नामका उपदेश ब्रह्माजीने किया है। इसका उच्चारण ही संसार भयसे तार देता है। इसीलिए ‘ॐ’ को ‘तारक ब्रह्म’ कहते हैं।

(ज) जो निरपराध होकर ‘हरि’ इन दो अक्षरोंका एक बार भी उच्चारण कर लेता है, वह भगवच्चरणारविन्दोंकी सेवा और मोक्षकी प्राप्तिके लिए कृतसङ्कल्प हो जाता है।

(झ) सूतजी! वह हृदय नहीं, लोहा है, जो भगवान्के मङ्गलमय नामोंका श्रवण-कीर्त्तन करनेपर भी पिघलकर उन्हींकी ओर बहने नहीं लग जाता। जिस समय हृदय पिघल जाता है, उस समय नेत्रोंमें आँसू छलकने लगते हैं और शरीरका रोम-रोम खिल उठता है।

(ञ) हे भृगुवर! यह श्रीकृष्णनाम मधुरसे भी सुमधुर है, सब प्रकारके मङ्गलोंमें भी परम मङ्गलस्वरूप है तथा सम्पूर्ण वेदरूपी कल्पलताका विशुद्ध चिन्मय नित्य सत्फलस्वरूप है। यदि कोई मनुष्य श्रद्धा या अवहेलनापूर्वक जैसे भी हो, किन्तु निरपराध होकर इसका एक बार भी कीर्त्तन करे, तो यह श्रीकृष्णनाम उसी समय कीर्त्तनकारी मनुष्यमात्रका संसारसे उद्धार कर देता है।

(ट) अर्जुन! मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ कि जो लोग मेरे नामोंका कीर्त्तन करते हुए मेरे समीप विचरण करते हैं, वे मुझे निश्चित रूपमें खरीद लेते हैं। मैं सम्पूर्ण रूपसे उनके अधीन हो जाता हूँ।

(ठ) श्रीकृष्णनाम चिन्तामणिके समान सर्वार्थप्रदाता हैं, वे स्वयं-कृष्ण, चैतन्य-रसविग्रह, पूर्ण, मायासे परे, नित्यमुक्त हैं; क्योंकि श्रीकृष्णनाम और श्रीकृष्णस्वरूप नामी, दोनों अभिन्न तत्त्व हैं।

(ड) इसीलिए श्रीकृष्णका नाम, रूप, गुण और उनकी लीला प्राकृत चक्षु-कर्ण आदि इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं हैं। सेवोन्मुख जिह्वा आदिमें वे स्वयं ही स्फुरित होते हैं।

इस प्रकार श्रुति, स्मृति और तन्त्रोंके वचनोंसे हरिनाममें सभी शक्तियोंकी विद्यमानता प्रतिपादित होती है। कर्म, ज्ञान, योग आदिके साधनमें देश, काल और पात्र आदिके विचार या नियम प्रबल होते हैं। परन्तु आपने अपने नामोंके स्मरण और कीर्त्तन आदिमें देश, काल और पात्र आदिका कोई भी नियम नहीं रखा है—यह हमारे प्रति आपकी अपार कृपाका उदाहरण है। इतना होनेपर भी हमारा यह अत्यन्त दुर्भाग्य है कि आपके ऐसे परम उदार नामोंके प्रति तनिक भी अनुराग नहीं हो पाया। यहाँ 'दुर्भाग्य' से नामापराधका तात्पर्य है। नीचे नामापराधके विषयमें संक्षेपमें कुछ बतलाया जा रहा है।

भगवत्-विमुख जीव मायारचित जड़जगत्में नाना प्रकारके विषयोंकी आसक्तियोंसे बँधे हुए हैं। वे कभी भी भगवान्‌के प्रति उन्मुख होनेकी चेष्टा नहीं करते। वे सब समय दुःखजनक कर्म और ज्ञान आदि साधनोंमें ही

तत्पर रहते हैं। किन्तु इन साधनोंसे जीवोंका नित्यकल्याण कदापि साधित नहीं हो सकता—ऐसा सोचकर अपार करुणामय श्रीकृष्णने अपनी स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनी-सारवृत्तिस्वरूप भक्तिका जीवोंके हृदयमें सञ्चार करनेके लिए उन्हें भक्ति प्राप्तिके उपाय-स्वरूप अपने नामोंको प्रकटित कर रखा है। परन्तु उन नामोंको सुनकर अथवा उनका जप करके भी नामापराधके कारण जीवोंको नामके प्रति अनुराग नहीं होता है। इसलिए श्रद्धालु पुरुषोंको श्रीगुरुदेवके मुखसे हरिनाम प्राप्त करके नामापराधसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक यथासाध्य जप और नामसङ्कीर्त्तन करना चाहिये।

नामापराध दस प्रकारके होते हैं—(१) सन्तोंकी निन्दासे श्रीनामके निकट घोर अपराध होता है; जिन नामपरायण सन्त-महात्माओंके द्वारा श्रीकृष्णनामकी महिमाका संसारमें प्रचार होता है, उनकी निन्दा श्रीनामप्रभु कैसे सह सकते हैं? अतः साधु-सन्तोंकी निन्दा पहला अपराध है। (२) इस संसारमें जो लोग बुद्धि द्वारा परम मङ्गलमय श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें भेद दर्शन करते हैं अर्थात् भौतिक पदार्थोंकी तरह ही विष्णुके नाम, रूप, गुण और लीलाको नामी-विष्णुसे पृथक् मानते हैं अथवा शिव आदि देवताओंको विष्णुसे स्वतन्त्र ईश्वर अथवा विष्णुके समान मानते हैं, उनका वह हरिनाम (नामापराध) निश्चय ही अहितकर है। (३) नाम-तत्त्वविद्

गुरुको मरणशील और पाञ्चभौतिक शरीरयुक्त साधारण मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करना। (४) वेद और सात्वत पुराण आदि शास्त्रोंकी निन्दा करना। (५) हरिनामकी महिमाको अतिस्तुति समझना। (६) भगवन्नामको काल्पनिक समझना अपराध है। (७) जिनकी श्रीनामके बलपर पाप-कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, उनकी यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि विविध कृत्रिम योग-प्रक्रियाओंके द्वारा भी शुद्धि नहीं होती—यह निश्चित है। (८) धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि प्राकृत सत्कर्मोंको अप्राकृत भगवन्नामके समान या तुल्य समझना भी प्रमाद या असावधानी है। (९) श्रद्धाहीन और नाम-श्रवण आदिसे विमुख मनुष्यको श्रीनामका उपदेश करना भी नामापराध है। (१०) जो श्रीनामकी अद्भुत महिमा सुनकर भी जड़-शरीरमें 'मैं' और सांसारिक पदार्थोंमें 'मेरा' की बुद्धि रखते हैं तथा श्रीनामोच्चारणमें प्रीति या आग्रह नहीं दिखलाते, वे भी नामापराधी हैं।

इन दस प्रकारके नामापराधोंसे रहित होकर नामसङ्कीर्त्तन करना आवश्यक है। नामसङ्कीर्त्तन करनेवालेको सत्कर्मियोंकी भाँति सत्कर्मोंके द्वारा पाप दूर करने और पुण्य-संचय करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उनका कर्माधिकार समाप्त हो चुका होता है। किन्तु यदि उनका कोई नामापराध बन जाता है, तो उन्हें बड़े व्याकुल हृदयसे निरन्तर कृष्णनाम ग्रहण करना चाहिये। ऐसे

निरन्तर हरिनाम करनेसे फिर अपराध करनेका कोई अवसर ही नहीं मिलता है तथा पूर्वकृत अपराधसमूह भी नष्ट हो जाते हैं। जैसे शास्त्रमें कहा गया है—"नामापराधयुक्त व्यक्तियोंके पापोंको केवल श्रीनाम ही नाश करनेमें समर्थ हैं।" इसलिए निरन्तर श्रीकृष्णनामसङ्कीर्त्तन करना चाहिये। उससे नामापराध दूर हो जायेगा और परमार्थस्वरूप श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति होगी।

इस प्रकार अपराधशून्य होनेपर श्रीहरिनामके प्रति अनुराग उत्पन्न होगा और उस समय सर्वार्थकी सिद्धि होगी। यहाँ सर्वार्थका तात्पर्य 'श्रीकृष्णप्रेम' से है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यही द्वितीय शिक्षा है॥२॥

श्रीचैतन्यचरितामृत

अनेक लोकेर वाञ्छा अनेक प्रकार।
कृपाते कहिल अनेक नामेर प्रचार॥

खाइते शुइते यथा तथा नाम लय।
काल-देश-नियम नाहि सर्वसिद्धि हय॥

सर्वशक्ति-नामे दिल करिया विभाग।
आमार दुर्दैव नामे नाहि अनुराग॥

(चै० च० अ० २०/१७-१९)

मायाबद्ध भगवत्-विमुख लोगोंके हृदयमें नाना प्रकारकी कामनाएँ रहती हैं। इसलिए वे अपने स्वरूपधर्म भगवद्भक्तिसे वञ्चित रहते हैं। भगवान् बड़े दयालु हैं; उन्होंने दयाके

वशीभूत होकर अपने अनेक नामोंको प्रकटित कर रखा है और उन नामोंके उच्चारण करनेमें देश, काल और पात्र आदिका कोई विशेष नियम भी नहीं रखा है। खाते–पीते और सोते समय भी श्रीकृष्णनाम करनेसे सर्वार्थकी सिद्धि होती है। अहो, श्रीकृष्णने अपने उन नामोंमें अपनी सारी शक्तियोंको भर दिया है। किन्तु मेरा दुर्भाग्य है कि ऐसे श्रीकृष्णनाममें मेरा तनिक भी अनुराग नहीं है।

कीर्त्तन–पद

तुहुँ दयासागर तारयिते प्राणी।
नाम अनेक तुया शिखायलि आनि॥

सकल शकति देइ नामे तोहारा।
ग्रहणे राखलि नाहि काल विचारा॥

श्रीनाम चिन्तामणि तोहारि समाना।
विश्वे बिलाओलि करुणा–निदाना॥

तुया दया ऐछन परम उदारा।
अतिशय मन्द नाथ भाग हमारा॥

नाहि जनमल नामे अनुराग मोर।
भकतिविनोद–चित्त दुःखे विभोर॥

गीतावली

❀❀❀

नाम–साधनकी पद्धति क्या है?

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥३॥

अन्वय—तृणादपि सुनीचेन (सर्वपद–दलित तुच्छ तृणसे भी अपनेको दीन–हीन, प्राकृत मर्यादारहित समझकर) तरोरपि सहिष्णुना (वृक्षसे भी अधिक सहनशील बनकर) अमानिना (स्वयं अमानी होकर) मानदेन (दूसरोंको यथायोग्य मान देनेवाला बनकर) सदा हरिः कीर्तनीयः (सदा–सर्वदा निरन्तर श्रीहरिनामसङ्कीर्त्तन करता रहे)॥३॥

अनुवाद—सर्वपद–दलित अत्यन्त तुच्छ तृणसे भी अपनेको दीन–हीन नीच समझकर, वृक्षसे भी अधिक सहनशील बनकर, स्वयं अमानी होकर, दूसरोंको यथायोग्य मान देनेवाला बनकर सदा सर्वदा—निरन्तर श्रीहरिनामसङ्कीर्त्तन करता रहे॥३॥

सन्मोदनभाष्यम्—निरपराधेन हरिनामकृतं विषयविरक्तिजनित–दैन्यं, निर्मत्सरतालंकृता दया, मिथ्याभिमानशून्यता, सर्वेषां यथायोग्यसम्मानना चैतानि लक्षणानि। तत्र चैतन्यरसविग्रह–स्वरूप–श्रीकृष्णनामाविर्भावात्तेषां चिद्रसेतरविरक्तिभावेनोक्तिः। अहमेवाणुचैतन्यस्वरूपः श्रीकृष्णदासो जीवः। जडात्मकेषु विषयेषु न मम कुत्रचिदर्थो वर्त्तते। वर्तमानजडयन्त्रितावस्था कृष्णबहिर्मुखदोषेण ममैव दुर्दशा। कृष्णकृपया यावत् मम

संसारनिवृत्तिर्न भवति तावत् सुतरां युक्तवैराग्येन श्रीकृष्ण-सम्बन्धज्ञानेन च जीवनयात्रोपयोगी विषयोऽपि मया स्वीकर्त्तव्यः। अभाव-रोग-शोक-वार्द्धक्यादिजनितदुःखप्राप्तिः स्वास्थ्यबल-विद्येत्यादिजनितसुखञ्च सर्वं प्रारब्धफलमवश्यं मया भोक्तव्यम्। चित्स्वरूपस्य मम जडविषये किञ्चिदपि नास्तीति विचिन्त्य सम्पूर्णदैन्येनाहं गृहे वने वा हा कृष्ण! हा गौरचन्द्र! हा प्राणनाथ! कदा शुद्ध दास्यमहं लभेयेति वदन् तिष्ठामि। अस्तु तस्य जडवस्तुत्वं, तथापि तृणस्य वस्तुत्वाभिमानं न न्यायविरुद्धं; किन्तु विकृत-स्वरूपस्य ममात्र वस्तुत्वाभिमानं न सुन्दरमिति तृणादपि मम सुनीचत्वं वास्तवम्। तरोरपि सहिष्णुनेति वाक्येन तरुः सञ्च्छेदकस्यापि छायाफल-दानेनोपकरोति, कृष्णभक्तस्तु तदपेक्षोच्चप्रवृत्त्या दयया सर्वान् शत्रुमित्रानुपकरोतीति सूचितम्। अनेन हरिनामकृतां निर्-मत्सरतालंकृतदयारूपा द्वितीय लक्षणं भवति। निरपराधेन नामगानपरस्योक्तिः। हा नाथ! एते मत्सङ्गिनो जीवाः कथं भवन्नाम्नि रतिं लभन्ते? ते सर्वे मायान्धाः सन्तः पुत्रकलत्रद्रविणजयपराजयसम्बन्धजनितसुखदुःखरूपद्वन्द्वकातराः। तेषामनर्थपूर्णे जडविषये विरक्तिर्न भवति। आशापाशाबद्धास्ते तुच्छानि दुःखोदर्कानि कर्मफलानि निर्भेदज्ञानफलानि वाऽन्वेष-यन्ति। कथमेषामात्मयाथात्म्यदर्शनरुचिर्जायते एवं ब्रुवन् सोऽपि 'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा' इत्युच्चैः स्वरेण गायति। अमानिना शब्देनास्य मिथ्याभिमानशून्यतारूपतृतीयलक्षणं

निर्दिष्टम्। बद्धजीवानां स्थूललिङ्गदेहद्वयसम्बन्धयोगैश्वर्य-भौगैश्वर्यधनरूपजातिवर्णबलप्रतिष्ठाधिकारेत्यादिजनितं यदभिमानं तन्मिथ्या जीवस्वरूपविरोधधर्मत्वात्। तत्तदभिमानशून्यता मिथ्याभिमानशून्यता। एवम्भूतमिथ्याभिमानशून्येन सर्वदा सत्यपि तत्तदभिमानहेतौ क्षान्तिगुणभूषितेन हरिनामकीर्तनीयम्। गृहे तिष्ठन् ब्राह्मणत्वाद्यहङ्कारशून्यो वने तिष्ठन् वैराग्यलिङ्गाहङ्कार-शून्यश्च कृष्णैकचित्तो भक्तः कृष्णनाम कीर्त्तयति। मानदशब्देन यथायोग्यं सर्वेषां मानदत्वं तस्य चतुर्थलक्षणम्। सर्वान् जीवान् कृष्णदासान् ज्ञात्वा कमपि न द्विषति प्रतिद्विषति वा। मधुरवाक्येन जगन्मङ्गलकार्येण च तान् सर्वान् तोषयति। विश्वे येऽधिकारप्राप्ता ब्राह्मणादयो ये च दिवि ब्रह्मरुद्रादि-देवादयस्तान् सर्वान् दैन्येन बहुमानयति। तेभ्यो हरिभक्तिं प्रार्थयते च। ये तु शुद्धभक्तास्तान् सर्वभावेन सेवते। अनेन लक्षणचतुष्टयेन भूषितस्य कृष्णनामकीर्त्तनमेव परमपुरुषार्थसाधनं भवतीति श्रीमन्महाप्रभुपादेनोपदिष्टम्॥३॥

निरपराध होकर श्रीकृष्णनामका सङ्कीर्त्तन करनेवाले साधकोंमें चार प्रकारके लक्षण देखे जाते हैं—विषयोंके प्रति विरक्तिजनित स्वाभाविक दीनता, मत्सरतारहित निर्मल दया, जड़ीय मिथ्याभिमानसे रहित हृदयकी निर्मलता और सबके प्रति यथायोग्य सम्मानकी भावना। साधकके हृदयमें अप्राकृत चिन्मय रसके मूर्त्तिमान विग्रहस्वरूप श्रीहरिनामका आविर्भाव होनेपर उसके हृदयमें इस प्रकारके भावोद्गार प्रकट होते हैं—अहो, मैं स्वरूपतः अणुचैतन्य श्रीकृष्ण-दास

हूँ। जड़ीय विषयोंसे मेरा कोई भी प्रयोजन नहीं है। हाय! हाय!! श्रीकृष्णसे विमुख होनेके कारण ही मेरी वर्त्तमान दुर्दशा उपस्थित हुई है—जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा हुआ नाना प्रकारके तापोंसे दग्ध हो रहा हूँ। अब मैंने श्रीगुरु-वैष्णवोंकी कृपासे यह समझ लिया है कि भगवद्भक्तिके साधन द्वारा ही मेरी विमुखता दूर हो सकती है तथा पुनः स्वरूपमें स्थित होकर भगवत्-प्रेम प्राप्त कर सकता हूँ। अतः भगवत्-कृपा द्वारा जब तक संसारसे छुटकारा नहीं मिल जाता, तब तक मुझे युक्तवैराग्यका अवलम्बनकर सम्बन्धज्ञानके साथ जीवन-निर्वाहोपयोगी विषयोंको ग्रहण करना चाहिये। अभाव, रोग, शोक, बुढ़ापा आदिसे उत्पन्न दुःख और अर्थादि प्राप्ति, स्वास्थ्य, बल, विद्या आदिसे उत्पन्न सुख—ये प्रारब्ध फल हैं; मुझे इनका अवश्य ही भोग करना होगा। हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुःख—ये पारमार्थिक नहीं हैं। अतः इन जड़विषयोंसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है—इस प्रकार विचारकर मैं अत्यन्त दीनतापूर्वक "हा कृष्ण! हा गौरचन्द्र! हा प्राणनाथ! मुझे आपकी शुद्ध सेवा कब मिलेगी? आप मुझ दीनहीनपर कृपा करें, मुझे शीघ्र ही अङ्गीकार करें"—ऐसा कहता हुआ घर या वनमें किसी प्रकार जीवन यापन करूँगा। तृण यद्यपि जड़वस्तु है, तथापि उसका वस्तुगत अभिमान (अहङ्कार) स्वाभाविक और न्याय-सङ्गत है। किन्तु मेरे वर्त्तमान स्थूल-सूक्ष्म शरीरगत अभिमान (अहङ्कार) शुद्ध-

स्वरूपसम्बन्धी नहीं होनेके कारण वस्तुतः ठीक नहीं हैं। तृणका अभिमान वास्तविक है, किन्तु मेरा जड़ाभिमान अवास्तविक है। अतः मेरे लिए तृणसे भी सुनीच होना यथार्थ ही है।

अब 'तरोरपि सहिष्णुना'—इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि वृक्ष इतने सहनशील होते हैं कि अपनेको काटनेवालेको भी अपनी सुशीतल छाया और सुमधुर फल देकर उपकार करना नहीं भूलते। कृष्णभक्त तो उससे भी अधिक दयालु होनेके कारण शत्रु-मित्र—सबका उपकार करते हैं। यह 'निर्मत्सरता युक्त दया' हरिनामकीर्त्तनकारी साधु पुरुषोंका दूसरा लक्षण है। निरपराध होकर हरिनाम-कीर्त्तन करनेवालोंके भावोद्गार ऐसे होते हैं—"हे नाथ! मेरे सङ्गी-साथी ये जीवसमूह बड़े अभागे हैं। इनकी आपके मङ्गलमय श्रीनाममें रति कैसे हो? ये तो मायान्ध होकर स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, जय-पराजय, हानि-लाभ और जन्म-मृत्युके सुख-दुःखमें डूबे हुए हैं। इन्हें अनर्थयुक्त जड़विषयोंसे तनिक भी विरक्ति नहीं हो रही है। ये नाना प्रकारकी भोग-वासनाओंकी दृढ़ रज्जुओंसे आबद्ध हो रहे हैं; सब समय आपात्-रमणीय, किन्तु परिणाममें दुःखदायी कर्मफल—लौकिक एवं स्वर्ग सुखभोग और ज्ञानफल—मुक्तिकी खोजमें बड़े व्यस्त हैं। इन लोगोंकी आत्मस्वरूपके दर्शनमें कैसे रुचि उत्पन्न हो?" ऐसा कहते-कहते वे साधक जीव भाव-विभोर होकर उच्चस्वरसे पद गाने लगते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् कलियुगमें हरिका नाम ही, हरिका नाम ही, हरिका नाम ही एकमात्र गति है, इसके अतिरिक्त और कोई गति नहीं है और निश्चित रूपमें गति नहीं है।

'अमानी' शब्दसे कीर्त्तनकारी साधकोंके मिथ्याभिमान-शून्यतारूप तीसरे लक्षणको सूचित किया गया है। मायाबद्ध जीवोंके स्थूल और सूक्ष्म शरीर-सम्बन्धी योगैश्वर्य, भोगैश्वर्य, धन-वैभव, रूप, जाति, वर्ण, बल, प्रतिष्ठा और अधिकारसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी अहङ्कार हैं, वे सभी स्वरूप-विरोधी एवं झूठे हैं। इन झूठे अहङ्कारोंसे रहित होना ही 'मिथ्याभिमानशून्यता' है। इस प्रकार उन अहङ्कारोंके रहनेका हेतु विद्यमान रहनेपर भी मिथ्याभिमान-शून्यता और सहनशीलतारूपी गुणोंसे अलंकृत व्यक्ति ही श्रीहरिनामकीर्त्तन करनेके योग्यतम अधिकारी हैं। ऐसे शुद्धसाधकभक्त गृहस्थाश्रममें ब्राह्मण आदिका अभिमान तथा त्यागी होनेपर संन्यासी और वैरागी होनेका अभिमान—इन सबको सर्वथा परित्याग करके श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें ही अनन्य रूपसे चित्तको लगाकर श्रीकृष्णका नामसङ्कीर्त्तन करते हैं।

तदनन्तर 'मानद' शब्दसे सबको यथायोग्य मान देना ही सङ्कीर्त्तनकारी भक्तिसाधकोंके चौथे लक्षणको सूचित करते हैं। वे जीवमात्रको कृष्णदास समझकर किसीसे भी

द्वेष या प्रतिहिंसाकी भावना नहीं रखते। वे अपने मधुर वचनों और जगन्मङ्गलकारी आचरणोंसे सबको सन्तुष्ट रखते हैं। इस जगत्में अधिकारी ब्राह्मण आदि योग्यतासम्पन्न मनुष्योंको, ब्रह्मा, रुद्र आदि देवताओंको नम्रतापूर्वक यथायोग्य सम्मान देते हैं; उनसे भगवद्भक्तिकी प्रार्थना करते हैं। विशेषतः शुद्धभक्तोंकी सर्वतोभावेन प्रीतिपूर्वक सेवा करते हैं।

इस प्रकार उक्त चारों लक्षणोंसे युक्त होकर किया गया श्रीकृष्णनामसङ्कीर्त्तन ही परम पुरुषार्थका साधन है। कलियुग पावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यही शिक्षा है ॥३ ॥

श्रीचैतन्यचरितामृत

उत्तम हञा आपनाके माने तृणाधम।
दुइ प्रकारे सहिष्णुता करे वृक्षसम॥

वृक्ष जेन काटिलेह किछु ना बोलय।
शुकाइया मैलेह कारे पानी ना मागय॥

जेई जे मागये, तारे देय आपन धन।
घर्म–वृष्टि सहे, आनेर करये रक्षण॥

उत्तम हइञा वैष्णव हबे निरभिमान।
जीवे सम्मान दिबे जानि कृष्ण–अधिष्ठान॥

एइ मत हइञा जेई कृष्णनाम लय।
श्रीकृष्णचरणे ताँर प्रेम उपजय॥
(चै॰ च॰ अ॰ २०/२२-२६)

उत्तम होनेपर भी जो अपनेको तुच्छ तृणसे भी अधिक दीन-दीन क्षुद्र समझता है, जो वृक्षकी भाँति दो प्रकारसे सहनशील होता है—जैसे वृक्ष काटे जानेपर भी कुछ भी नहीं कहता, सूखकर मरते समय भी किसीसे पानी नहीं माँगता, माँगनेवालोंको फल, फूल, लकड़ी, छाल, रस अपना सब कुछ दे देता है स्वयं धूप और वर्षाको सहता हुआ भी दूसरोंकी धूप और वर्षासे रक्षा करता है, वैसे ही जो स्वयं कुछ नहीं चाहता और दूसरोंको सर्वस्व देकर भी उनकी रक्षा करता है, यहाँ तक कि वह जीवके स्वरूपगत धर्म—कृष्णप्रेमको भी प्रदान करता है; जो उत्तम होकर भी निरभिमान रहे और जीवमात्रमें कृष्णका अधिष्ठान जानकर उन्हें यथायोग्य सम्मान दे, वही श्रीकृष्णनामकीर्त्तनका यथार्थ अधिकारी है और ऐसे श्रीकृष्णनामका कीर्त्तन करनेवालोंको ही श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है।

कीर्त्तन-पद

श्रीकृष्ण कीर्तने यदि मानस तोहार।
परम यतने ताँहि लभ अधिकार॥

तृणाधिक हीन दीन अकिञ्चन छार।
आपने मानबि सदा छाड़ि अहंकार॥

वृक्ष सम क्षमा गुण करबि साधन।
प्रतिहिंसा त्यजि अन्ये करबि पालन॥

जीवन–निर्वाहे आने उद्वेग ना दिबे।
पर–उपकारे निज सुख पासरिबे॥

हइलेओ सर्वगुणे गुणी महाशय।
प्रतिष्ठाशा छाड़ि कर अमानी हृदय॥

कृष्ण–अधिष्ठान सर्वजीवे जानि सदा।
करबि सम्मान सबे आदरे सर्वदा॥

दैन्य, दया, अन्ये मान, प्रतिष्ठा–वर्जन।
चारि गुणे गुणी हइ करइ कीर्त्तन॥

भकतिविनोद काँदि बले प्रभु पाय।
हेन अधिकार कबे दिबे हे आमाय॥

गीतावली

यदि तुम श्रीकृष्णनामकीर्त्तन करना चाहते हो, तो परम यत्नके साथ उसमें अधिकार प्राप्त करो। अपने जड़ीय अहङ्कारोंको छोड़कर अपनेको तृणसे भी दीन, हीन और क्षुद्र समझो। वृक्षके समान सहनशील बनो। वृक्षके समान क्षमा गुण अपनाओ, प्रतिहिंसा छोड़कर

सबका पालन-पोषण करो। अपने जीवन-निर्वाहके लिए किसीको उद्वेग मत दो। अपने सुखोंका त्याग करके भी परोपकार करो, सर्वगुणोंके आगार होनेपर भी प्रतिष्ठा पानेकी लालसा दूर रखो और जीवमात्रमें श्रीकृष्णको स्थित जानकर आदरपूर्वक उन्हें यथायोग्य सम्मान दो। इस प्रकार दीनता, दया, मान और प्रतिष्ठा-वर्जन—इन चारों गुणोंसे विभूषित होकर श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन करो। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर रो-रोकर प्रभुके चरणकमलोंमें यह प्रार्थना करते हैं—प्रभो! मुझे ऐसा अधिकार कब प्रदान करोगे?

साधकोंकी अभिलाषा कैसी होती है?

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥४॥

अन्वय—हे जगदीश! अहं धनं न, जनं न, सुन्दरीं कवितां वा न कामये (मैं धन, जन या सुन्दरी कविता कुछ भी नहीं चाहता), मम (मेरी) जन्मनि जन्मनि (केवल यही प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तरमें) ईश्वरे त्वयि अहैतुकी भक्तिः भवतात् (आपके श्रीचरणकमलोंनें मेरी अहैतुकी भक्ति रहे)॥४॥

अनुवाद—हे जगदीश! न मैं धन चाहता हूँ, न जन चाहता हूँ, न सुन्दरी कविता ही चाहता हूँ। चाहता हूँ केवल, हे प्राणेश्वर! आपके श्रीचरणकमलोंमें मेरी जन्म-जन्मान्तरमें अहैतुकी भक्ति हो॥४॥

सन्मोदनभाष्यम्—आदौ श्रद्दधानानां श्रीगुरुमुखात् हरिनाम-श्रवणम्। ततो निरपराधेन तन्नामकीर्तनम्। ततः पूर्वोक्त-लक्षणचतुष्टयरूपमनुभावः। किन्तु ह्लादिनीसारवृत्तिरूपाया भक्तेर्जडानन्दान्वयव्यतिरेकसम्बन्धशून्यं शुद्धस्वरूपोदयं बिना भावात्मिका भक्तिर्न भवतीति विचिन्त्य नामकीर्तनरूप-साधनभक्तेः शुद्धस्वरूपं व्यतिरेकलक्षणेन स्पष्टयति न

धनमिति श्लोकद्वयेन। यावदानुकूल्यमयी कृष्णानुशीलनरूपा भक्तिर्व्यतिरेकलक्षणा-त्मिकाऽन्याभिलाषिताशून्या ज्ञान-कर्माद्यनावृता च न भवति तावत्तस्या भक्त्याभासमात्रत्वम्। तदाभासत्वं परिहर्तुमिच्छया व्यतिरेकलक्षणेन शुद्धभक्तिं शिक्षयति। हे जगदीश! धनं जनं सुन्दरीं कवितां वाऽहं न कामये। अत्र धनपदेन वर्णाश्रमनिष्ठधर्मधनम्, ऐहिकपारत्रिकजडसुखकरं सर्वमर्थधनं, स्थूललिङ्गगतेन्द्रिय-गणानन्दकरं कामधनञ्च ज्ञातव्यम्। जनपदेन स्वशरीरानुगस्त्री-पुत्रदासदासीप्रजाबन्धुबान्धवादयः ज्ञातव्याः। सुन्दरीकवितापदेन 'सा विद्या तन्मतिर्यया' (श्रीमद्भा॰ ४/२९/४९) इति न्यायात् भगवल्लीलातत्त्वकीर्तनरूपकाव्यं बिना अन्यकाव्यलक्षणा सामान्यविद्या ज्ञेया। एतत् सर्वमहं न याचे किन्तु जन्मनि जन्मनि त्वयि ईश्वरे प्राणेश्वरे कृष्णे अहैतुकीं भक्तिं याचे। अहैतुकी भक्तिः फलानुसन्धानरहिता चित्स्वभावाश्रया कृष्णनन्दरूपा शुद्धा केवलाऽकिञ्चनाऽमिश्रा भक्तिरिति। जन्ममरणरूपजडयन्त्रणानिवृत्तिः कृष्णेच्छाधीना जीवचेष्टातीत-विषया। तत्प्रार्थनाऽपि न कर्त्तव्या। अतो जन्मनि जन्मनीति वक्तव्या। यदा कृष्णेच्छया जन्म-मरणनिवृत्तिस्तदा तत्तु दुःखं स्वयमेव नश्यति किमुपायविरोधिन्या तत्प्रार्थनया? ॥४॥

श्रद्धालु साधकोंको सर्वप्रथम श्रीगुरुदेवके मुखनिःसृत श्रीहरिनामका श्रवण करना चाहिये। तदनन्तर निरपराध होकर श्रद्धापूर्वक हरिनामका कीर्त्तन करना चाहिये। इस प्रणालीसे भगवन्नामका कीर्त्तन करनेसे उनके हृदयमें पूर्वोक्त चार प्रकारके लक्षणोंका प्रादुर्भाव होता है। किन्तु

अन्वय-व्यतिरेक रूपमें जड़जगत्के वैषयिक सुखोंसे सम्बन्ध-रहित हुए बिना साधकके शुद्ध स्वरूपका उदय नहीं होता और शुद्ध स्वरूपका उदय हुए बिना ह्लादिनीकी सार-वृत्तिस्वरूपा भक्ति—भावभक्तिके रूपमें परिणत नहीं होती। ऐसा विचारकर श्रीनामसङ्कीर्त्तनरूप साधनभक्तिके शुद्धस्वरूपको व्यतिरेक लक्षणके द्वारा दो श्लोकोंमें स्पष्ट किया जा रहा है। 'न धनं न जनं' इत्यादि। यहाँ अन्वयका तात्पर्य आनुकूल्यमय कृष्णानुशीलनरूप मुख्य लक्षणसे है तथा व्यतिरेकका तात्पर्य भक्तिके अतिरिक्त अन्याभिलाषिताशून्य और कर्मज्ञानादि द्वारा अनावृत होना—इन दो गौण लक्षणोंसे है। जब तक आनुकूल्यमय कृष्णानुशीलन—अन्याभिलाषिताशून्य और कर्म, ज्ञान, योग आदि द्वारा अनावृत नहीं होता, तब तक वह कृष्णानुशीलन शुद्धा या उत्तमाभक्ति नहीं होती, अपितु वह भक्तिका आभासमात्र है। यहाँपर उक्त आभासको दूर करनेके लिए शिक्षा दे रहे हैं—"हे जगदीश! मैं धन, जन अथवा सुन्दरी कविता आदि कुछ भी नहीं चाहता।" यहाँ 'धन' शब्दसे वर्णाश्रमनिष्ठ धर्मधन, लौकिक एवं पारलौकिक जड़ीय सुखभोगकी समस्त प्रकारकी कामनाओं तथा स्थूल-लिङ्ग-इन्द्रियोंके लिए सुखकर अर्थ अर्थात् धनसम्पति और भोग-विलासकी सामग्रियोंसे तात्पर्य है। 'जन' पदसे स्त्री, पुत्र, दास, दासी, प्रजा और बन्धु-बान्धवोंको लक्ष्य किया गया है। विद्या उसे कहते हैं, जिससे भगवान्के चरणकमलोंमें मति रहे।

'सुन्दरी-कविता'—इससे किन्तु भागवान्‌की लीला-कथा, तत्त्व और कीर्त्तनसे सम्बन्धित अप्राकृत काव्यके अतिरिक्त दूसरे काव्य सम्बन्धी साधारण विद्याको ही बतलाया गया है। मैं इन सब वस्तुओंके लिए आपसे प्रार्थना नहीं करता; परन्तु जन्म-जन्मान्तरोंमें आप प्राणेश्वर कृष्णमें ही मेरी अहैतुकी भक्ति हो—केवल यही प्रार्थना है। इतर कामना-वासनासे रहित, चिन्मयस्वभावयुक्त, श्रीकृष्णको आनन्द देनेवाली, शुद्धा, केवला, अकिञ्चना और अमिश्रा भक्तिको अहैतुकी भक्ति कहते हैं। जन्म-मरणरूप जड़-यन्त्रणको दूर करना जीवोंकी चेष्टासे अतीतकी बात है—वह केवल भगवदिच्छाके ही अधीन है। अन्यान्य दुःखोंकी निवृत्ति तो अपने आप ही हो जायेगी—अतः भक्तिविरोधी ऐसी प्रार्थनाकी आवश्यकता ही क्या है? अतः भगवदिच्छासे जब तक जन्म-मृत्युका प्रवाह बन्द नहीं हो जाता, तब तक जन्म-जन्मान्तरोंमें जहाँ कहीं भी जिस रूपमें रहूँ, भगवत्पदारविन्दोंमें मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे—बस यही एकमात्र मेरी प्रार्थना है॥४॥

श्रीचैतन्यचरितामृत

शुद्धभक्ति कृष्ण ठाँइ मागिते लागिला॥

प्रेमेर स्वभाव याँहा प्रेमेर सम्बन्ध।
सेइ माने कृष्णे मोर नाहि भक्तिगन्ध॥

धन जन नाहि माँगो कविता सुन्दरी।
शुद्ध भक्ति देह मोरे कृष्ण कृपा करि॥

अति दैन्य पुनः माँगो दास्य भक्तिदान।
आपनाके करे संसारी जीव अभिमान॥
(चै॰ च॰ अ॰ २०/२७, २८–३०)

स्वयंभगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुजी अपनेको संसारी जीव मानते हुए श्रीकृष्णसे शुद्धभक्तिकी प्रार्थना करते हैं। अहो, प्रेमका स्वभाव ही ऐसा है कि जिनका प्रेमसे सम्बन्ध हो जाता है, वे ऐसा समझने लगते हैं कि मुझमें कृष्णभक्तिकी गन्ध तक नहीं है। अतः प्रेमके मूर्त्तिमान–विग्रह श्रीमन् महाप्रभुजी कहते हैं—मैं धन, जन या सुन्दरी कविता कुछ भी नहीं चाहता। हे करुणामय श्रीकृष्ण! मुझे तो आप अहैतुकी कृपा करके केवल अपनी शुद्धाभक्ति ही प्रदान करें। मैं पुनः–पुनः दीनतापूर्वक श्रीचरणोंमें दास्यभक्तिका दान ही माँगता हूँ॥४॥

कीर्त्तन–पद

प्रभु! तव पद युगे मोर निवेदन।
नाहि माँगि देहसुख–विद्या धन जन॥

नाहि माँगि स्वर्ग आर मोक्ष नाहि माँगि।
ना करि प्रार्थना कोन विभूतिर लागि॥

निज कर्मगुण दोषे जे जे जन्म पाइ।
जन्मे जन्मे जेन तव नाम गुण गाइ॥

एइ मात्र आशा मम तोमार चरणे।
अहैतुकी भक्ति हृदे जागे अनुक्षणे॥

विषये जे प्रीति एबे आछये आमार।
सेइ मत प्रीति हउक चरणे तोमार॥

सम्पदे विपदे ताहा थाकुक समभावे।
दिने दिने वृद्धि हउक नामेर प्रभावे॥

पशु पक्षी हये थाकि स्वर्गे या निरये।
तव भक्ति रहु भक्तिविनोद-हृदये॥

गीतावली

दयामय प्रभो! आपके श्रीचरणकमलोंमें मेरा विशेष निवेदन है। मैं दैहिक सुख, विद्या, धन, जन, स्वर्ग या मोक्ष कुछ भी नहीं माँगता; मैं आपसे किसी प्रकारकी विभूति या सिद्धि भी नहीं माँगता। अपने भले-बुरे कर्मोंके फलस्वरूप मैं जिन-जिन योनियोंमें जन्म ग्रहण करूँ, उन-उन जन्मोंमें आपके मधुर नामों और गुणोंका गान करता रहूँ और मेरे हृदयमें निरन्तर अहैतुकी भक्ति जागरूक रहे—आपके श्रीचरणकमलोंमें यही मेरी एकमात्र प्रार्थना है। इस समय जड़ भोग विषयोंमें जैसी प्रीति है, ठीक वैसी ही प्रीति आपके श्रीचरणोंमें हो जाये। वह

प्रीति, सुख और दुःखमें एक समान बनी ही नहीं रहे, बल्कि आपके श्रीनामोंके कीर्त्तनके प्राभावसे दिन-दिन निरन्तर बढ़ती ही रहे। पशु-पक्षीकी योनियोंमें रहूँ, स्वर्गमें या नरकमें जहाँ कहीं भी जन्म ग्रहण करूँ, इस दास भक्तिविनोदके हृदयमें आपकी अहैतुकी भक्ति सदा-सर्वदा विराजमान रहे॥४॥

भक्तसम्राट कुलशेखरजी भी ऐसी ही प्रार्थना करते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्यद् भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

नाहं वन्दे पदकमलयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतो
कुम्भीपाकं गुरुमपि हरे नारकं नापनेतुम्।
रम्यारामामृदुतनुलतानन्दने नाभिरन्तुं
भावे भावे हृदयभवने भावयेयं भवन्तम्॥

साधकोंका स्वरूप क्या है?

अयिनन्दतनुज किङ्करं
पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कज-
स्थितधूलिसदृशं विचिन्तय॥५॥

अन्वय—अयि नन्दतनुज (हे नन्दनन्दन!) विषमे भवाम्बुधौ (भयङ्कर भवासागरमें) पतितं किङ्करं मां कृपया (पड़े हुए अपने नित्यदास मुझे कृपा करके) तव पादपङ्कज-स्थितधूलिसदृशं (अपने श्रीचरणकमलोंमें संलग्न रजःकणके समान अर्थात् सदा-सर्वदा अपने क्रीतदासके रूपमें) विचिन्तय (समझें)॥५॥

अनुवाद—हे नन्दनन्दन! अपने कर्मफलसे भयङ्कर भवसागरमें पड़े हुए अपने नित्यदास मुझे कृपा करके अपने श्रीचरणकमलोंमें संलग्न रजःकणके समान सदा-सर्वदा अपने क्रीतदासके रूपमें ग्रहण करें॥५॥

सन्मोदनभाष्यम्—ननु किं संसारदुःखं नालोचनीयं साधकेनेत्याशङ्क्याह—अयि नन्दतनुजेति। हे नन्दतनुज! अहं वस्तुविचारतस्तव नित्यकिङ्करः। अधुना निजकर्मदोषेण विषमे भवसागरे पतितः। कामक्रोधादि बहुशत्रुताडितः; दुराशा-दुश्चिन्तातरङ्गप्रपीडितः; कुसङ्गप्रबलवायुना प्रचालितश्च। एतद्दशायां कदाचित् कर्मज्ञानयोगतपस्यादितृणगुच्छा भासमाना

दृश्यन्ते। तानवलम्ब्य भवसमुद्रतितीर्षा निष्फला तेषामपार्थत्वात् बहुक्लेशपीड्यमानोऽनुतप्तः सन् तव कृपां बिनाऽस्य भवसमुद्रस्य पारगमनेऽन्यप्लवो नास्तीति ज्ञात्वा श्रीगुरुचरणकृपया भवन्नामतरणीं प्राप्तवान्। भवानेव शरणागतवात्सल्यात् सर्वदोषमार्जनपूर्वकं निराश्रितं मां करुणया, भवत्पादपङ्कज-स्थितधूलिसदृशं विचिन्तय विभावय। तव पादपद्मसंलग्नरेणुरिव तस्मान्न विच्छिन्नो भविष्यामीति भावः। एतेन कर्मज्ञानलभ्य-भुक्तिमुक्तिफलकामना भक्तजनानां परित्यज्येति ज्ञातव्यम्॥५॥

हरिनामसङ्कीर्त्तनकारी साधकोंके लिए सांसारिक दुःखोंकी आलोचना करना क्या उचित है? ऐसी आशङ्काका समाधान करनेके लिए श्रीगौरसुन्दर उक्त 'अयिनन्दतनुज' श्लोककी अवतारणा कर रहे हैं—हे नन्दनन्दन! वस्तुतः मैं आपका नित्यकिङ्कर हूँ; किन्तु अब अपने कर्मदोषसे इस भीषण संसारसागरमें पड़ा हुआ हूँ। काम, क्रोध, मत्सरता आदि ग्राह मुझे निगलनेके लिए मुँह बढ़ाये खड़े हैं। दुराशा और दुश्चिन्ताकी तरङ्गोंमें इधर-उधर बहता हुआ बड़ा ही पीड़ित हो रहा हूँ। इधर कुसङ्गरूप प्रबल वायुके झोंके और भी व्याकुल कर रहे हैं। ऐसी दशामें आपके बिना मेरा कोई आश्रय नहीं है। कर्म, ज्ञान, योग, तप आदि तृण-गुच्छोंके समान इधर-उधर तैरते हुए दीख तो रहे हैं; परन्तु क्या उनका आश्रय लेकर कोई संसार-सागरके पार जा सकता है? हाँ, कभी-कभी ऐसा तो होता है कि संसार-सागरमें डूबता हुआ जन, उन्हें भी

पकड़कर, अपने साथ उन्हें भी डुबो लेता है। अब आपकी कृपाके बिना और कोई आश्रय नहीं हो सकता है। केवल आपका नाम ही ऐसी दृढ़ नौका है, जिसके आश्रयसे यह जीव संसारसिन्धुको सहज ही पार कर सकता है। यह सोच-विचारकर मैंने श्रीगुरुके चरणकमलोंकी अहैतुकी कृपासे आपके श्रीनामरूपी सुदृढ़ नौका का आश्रय ग्रहण किया है। आप शरणगतवत्सल हैं; मुझ निराश्रितके समस्त दोषोंको क्षमाकर अपने चरणकमलोंमें संलग्न रजःकणके समान जानें। ऐसा होनेपर मैं पद-संलग्न धूलिकणोंके समान आपके चरणकमलोंसे कभी भी अलग नहीं हो सकूँगा—उक्त श्लोकका यही तात्पर्य है। इसके द्वारा यह सुविदित होता है कि भक्तिसाधकको भोग और मोक्षकी कामनाका सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देना चाहिये ॥५ ॥

श्रीचैतन्यचरितामृत

तोमार नित्यदास मुँइ तोमा पासरिया।
पड़ियाछों भवार्णवे मायाबद्ध हञा॥

कृपा करि कर मोरे पदधूलि सम।
तोमार सेवक करों तोमार सेवन॥

पुनः अति उत्कण्ठा दैन्य हैल उद्गम।
कृष्ण ठांइ मागे प्रेम नामसङ्कीर्त्तन॥

(चै॰ च॰ अ॰ २०/३१, ३३, ३४)

प्रभो! मैं आपका नित्यदास हूँ। दुर्भाग्यसे आपको छोड़कर मायाबद्ध होकर अथाह भवसागरमें डूब रहा हूँ। आप कृपा करके मुझे श्रीचरणकमलकी धूलिके रूपमें ग्रहण करें। मैं आपका सेवक बनकर नित्यकाल आपकी सेवा करूँगा। ऐसा कहते-कहते श्रीचैतन्यमहाप्रभुके हृदयमें अत्यन्त उत्कण्ठा बढ़ गयी, वे दीनतापूर्वक पुनः श्रीकृष्णसे नामसङ्कीर्त्तनमें प्रीतिके लिए प्रार्थना करने लगे।

कीर्त्तन-पद

अनादि करम फले, पड़ि भवार्णव जले,
तरिवारे ना देखि उपाय।
ए विषय-हलाहले, दिवानिशि हिया जले,
मन कभु सुख नाहि पाय॥

आशा-पाश शत-शत, क्लेश देय अविरत,
प्रवृत्ति उर्मिर ताहे खेला।
काम क्रोध आदि छय, बाटपाड़े देय भय,
अवसान हैल आसि बेला॥

ज्ञान कर्म ठग दुइ, मोरे प्रतारिया लइ,
अवशेषे फेले सिन्धुजले।
ए हेन समये बन्धु, तुमि कृष्ण कृपासिन्धु,
कृपा करि तोल मोरे बले॥

पतित किङ्करे धरि, पादपद्मधूलि करि,
देह भक्तिविनोदे आश्रय।
आमि तव नित्यदास, भुलिया मायार पाश,
बद्ध ह'ये आछि दयामय॥

गीतावली

परम करुणामय कृष्ण! मैं अपने अनादि कर्मोंके फलस्वरूप अथाह भवसिन्धुमें डूबा जा रहा हूँ। उससे पार होनेका कोई उपाय नहीं दीखता। विषयरूप हलाहल विषसे हृदय जला जा रहा है, मन बड़ा व्याकुल हो रहा है। नाना प्रकारकी कामनाओंकी रज्जुओंसे जकड़ा हुआ निरन्तर कष्ट पा रहा हूँ, प्रवृत्तिरूप तरङ्गोंके थपेड़ोंको खाता हुआ इधर-उधर बह रहा हूँ। इधर जीवनकी बेला समाप्त होने जा रही है, मृत्यु भी सन्निकट है, उधर काम, क्रोध, लोभ आदि षड्वेगरूपी दस्यु झपट रहे हैं, कर्म और ज्ञानरूपी ठगोंने मुझे ठग लिया है, और अन्तमें अगाध समुद्रमें फेंक दिया है। हे करुणासिन्धो! ऐसी घोर विपत्तिके समय आप ही एकमात्र बन्धु हैं। कृष्ण! आप कृपापूर्वक मेरा उद्धार करें; मैं आपका ही नित्यदास हूँ। आपको भूलकर मायाके बन्धनमें जकड़ा हुआ हूँ। मुझ पतित किङ्कर 'भक्तिविनोद' को अपने श्रीचरणकमलोंकी धूलिके रूपमें आश्रय प्रदान करें।

❀❀❀

सिद्धिके बाहरी लक्षण क्या हैं?

नयनं गलदश्रुधारया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नामग्रहणे भविष्यति॥६॥

अन्वय—(हे प्रभो!) तव नाम ग्रहणे (आपका नाम-सङ्कीर्त्तन करते समय) मम नयनं गलदश्रुधारया (मेरे नयन अश्रुधारासे) वदनं गद्गदरुद्धया गिरा (मेरा मुख गद्गद वाणीसे) वपुः पुलकैः निचितं (और मेरा शरीर—सर्वाङ्ग पुलकावलियोंसे) कदा भविष्यति (कब व्याप्त होगा?)॥६॥

अनुवाद—प्रभो! आपके नाम ग्रहण करते समय मेरे नयन अश्रुधारासे, मेरा मुख गद्‌गद वाणीसे और मेरा शरीर पुलकावलियोंसे कब व्याप्त होगा?॥६॥

सन्मोदनभाष्यम्—पूर्वोक्तपञ्चश्लोकैरादौ श्रद्धा ततः साधु-सङ्गस्ततः श्रवणकीर्तनस्मरणपादसेवनार्चनवन्दनदास्यसख्यात्म-निवदेनात्मकं भजनं ततः स्वरूपबोधानन्तरमविद्यारूपा-नर्थनाशस्ततो निष्ठा ततोरुचिस्ततो आसक्तिस्ततो भाव (भ॰ र॰ सि॰ पू॰ १/४-१५) इति ह्लादिनीसारवृत्तिसहायेन जीवस्वरूपविकाशरूपपरमधर्मस्य क्रमो हि लक्षितः। भावदशायां भक्तेः शुद्धस्वरूपस्याखण्डत्वं सिध्यति। तदा भक्तिः प्रेमांकुर-स्वरूपरतिरूपा। साधनदशास्थितश्रवणकीर्तनादिलक्षणानां मध्ये

कृष्णनामकीर्तनं भावदशायामत्यन्तं प्रबलं भवति। 'क्षान्तिरव्यर्थ-कालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता। आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदारुचिः॥ आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले। इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने॥' (भ॰ र॰ सि॰ १/३/२५-२६) इति सिद्धान्तवाक्यात्। पुनश्च 'शुद्ध-सत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्। रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते।' (भ॰ र॰ सि॰ १/३/१) इति लक्षणेन भावस्वरूपरतेः प्रेमांकुरत्वं प्रेमपरमाणुत्वं सिध्यति। 'प्रेम्नस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते। सात्त्विका स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः॥ ध्यायं ध्यायं भगवतः पादाम्बुजयुगं तदा। ईषद्विक्रियमाणात्मा सार्द्रदृष्टिरभूदसौ॥' (भ॰ र॰ सि॰ १/३/२-३) इत्यादि तन्त्रपुराणवचनेन प्रेमलक्षणाया भक्तेर्ये त्वनुभावाः सात्त्विका विकारादयश्च सन्ति ते सर्वे कियत् परिमाणेन भावदशायामपि लक्ष्यन्ते। अनुभावाश्चैते—'नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम्। हुंकारे जृंभणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता। लालाश्रावोऽट्टहासश्च घूर्णाहिक्कादयोऽपि च' (भ॰ र॰ सि॰ २/२/२) इति। सात्त्विकविकारश्चैते—ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रुः प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृता॥ (भ॰ र॰ सि॰ २/३/१६) इति। एषां मध्ये नृत्यगीताश्रुपुलकस्वरभेदाः भावदशायां विशेषतो लक्षिताः। अतएव तद्दशां लक्ष्ययित्वा वदति शिक्षकचूडामणिः श्रीगौरचन्द्रः—हे कृष्ण! हे नन्दनन्दन! तव नामग्रहणे कदा मम नयने अश्रुधारा विगलिता भविष्यन्ति; कदा वा

स्वरभेदजनितेन गद्गदवाक्येन वदनं मम विक्रियां गमिष्यति। मम वपुश्च कदा पुलकितं भविता। हे नाथ! तव नामग्रहणे ममाप्यचिरेणैव तत्तद्दशालक्षणं भवतु॥६॥

पूर्वोक्त पाँच श्लोकोमें सबसे पहले श्रद्धा, उससे साधुसङ्ग, तदनन्तर श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनरूप नवधाभक्तिका साधन, तत्पश्चात्, आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि और उससे अविद्यारूप अनर्थका नाश, उसके बाद क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भावका उदय—इस प्रकार ह्लादिनीशक्तिकी सारवृत्ति-स्वरूप भक्तिकी सहायतासे जीवके स्वरूप-विकाशरूप परमधर्मका क्रम-विकास दिखलाया गया है। भावदशामें भक्तिके शुद्ध-स्वरूपका अखण्डत्व सिद्ध होता है। भावको रति भी करते हैं। इसे पूर्णविकसित भक्तिरूप प्रेमका अङ्कुर माना गया है। साधन दशामें साधित होनेवाले श्रवण-कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंमेंसे श्रीकृष्णनामसङ्कीर्त्तन भावावस्थामें अत्यन्त प्रबल रूप धारण करता है। उस समय साधकका चित्त क्षुब्ध होनेका कारण उपस्थित होनेपर भी अक्षुब्ध रहना रूप क्षान्ति, भक्ति अनुशीलनके बिना वृथा समय न जाना—अव्यर्थ-कालत्व, विषयोंके प्रति विरक्ति, मानशून्यता, भगवत्प्राप्तिकी दृढ़ आशारूप आशाबन्ध, भगवत्प्राप्तिकी तीव्र उत्कण्ठा, नामकीर्त्तनमें प्रबल रुचि, भगवत्-गुणानुवाद श्रवण-कीर्त्तनमें आसक्ति, भगवल्लीला स्थलियोंमें प्रीति—ये

नौ प्रकारके अनुभाव (लक्षणसमूह) प्रकट हो जाते हैं। पुनः पूर्वोक्त साधनभक्ति, भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा (रुचि) द्वारा चित्तके द्रव-कारिणी होनेपर 'भावभक्ति' कहलाती है। यह भाव—विशुद्धसत्त्वविशेषस्वरूप एवं प्रेमरूपी सूर्यके किरणतुल्य होता है। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त-वाक्योंसे भावभक्ति या रतिका प्रेमाङ्कुरत्व एवं प्रेम-परमाणुत्व सिद्ध होता है। "प्रेम ही प्रारम्भिक दशामें 'भाव' कहलाता है और उस दशामें अश्रु, पुलक आदि सात्त्विक विकारसमूह स्वल्प मात्रामें दिखलायी पड़ते हैं। उस दशामें भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते समय हृदय द्रवित हो जाता है तथा आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है।"—इत्यादि तन्त्र और पुराणके वचनोंके अनुसार प्रेमदशामें जो अनुभाव और सात्त्विक विकारसमूह प्रबल रूपमें प्रकट होते हैं, भाव दशामें वे अनुभाव और सात्त्विक विकार ही स्वल्प मात्रामें दृष्टिगोचर होते हैं। अन्तःकरणके भावोंको प्रकट करनेवाले बाहरी विकारोंको अनुभाव कहते हैं; जैसे—नृत्य, विलुण्ठन (भूमिपर लोटना), गान, जोरसे चिल्लाना, अङ्गोंका मरोड़ना, हुँकार, जँभाई, दीर्घ-स्वाँस, लोकापेक्षा-त्याग, लार टपकना, जोरसे हँसना, चक्कर आना और हिचकी।

सात्त्विक विकार आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। इनमेंसे नृत्य, गीत, अश्रु, पुलक और स्वरभेद—भावदशामें विशेष

रूपसे लक्षित होते हैं। शिक्षकचूड़ामणि श्रीचैतन्य महाप्रभुजी इस भावदशाकी ओर लक्ष्य करके ही कह रहे हैं—हे कृष्ण! हे नन्दनन्दन! आपका नाम ग्रहण करते समय मेरे नयनोंसे अश्रुधारा कब प्रवाहित होगी? स्वरभङ्गके कारण मेरा कण्ठ कब गद्गद वाणियोंसे रुद्ध हो जायेगा? और मेरा शरीर पुलकावलियोंसे कब परिव्याप्त होगा? नाथ! आप ऐसी कृपा करें कि आपका नाम ग्रहण करते समय ये लक्षणसमूह यथाशीघ्र मुझमें भी उदित हों॥६॥

श्रीचैतन्यचरितामृत

प्रेमधन बिना व्यर्थ दरिद्र जीवन।
'दास' करि वेतन मोरे देह प्रेमधन॥
(चै॰ च॰ अ॰ २०/३७)

प्रेमधनके बिना दरिद्र जीवन व्यर्थ है। प्रभो! आप मुझे सेवकके रूपमें ग्रहणकर मझे वेतनके रूपमें अपना प्रेमधन प्रदान करें॥६॥

कीर्त्तन—पद

अपराध फले मम, चित्त भेल वज्रसम,
तुया नामे ना लभे विकार।
हताश हइया हरि, तव नाम उच्च करि,
बड़ दुःखे डाकि बार बार॥

दीन दयामय करुणा निदान।
भाव बिन्दु देइ राखह पराण॥

कबे तव नाम–उच्चारणे मोर।
नयने झरब दर दर लोर॥

गद्‌गद स्वर कण्ठ उपजब।
मुखे बोल आध–आध बहिराब॥

पुलके भरब शरीर हामार।
स्वेद–कम्प–स्तम्भ हबे बारबार॥

विवर्ण शरीरे हारायब ज्ञान।
नाम समाश्रये धरबूँ पराण॥

मिलब हमार किये ऐछे दिन।
रोवये भक्तिविनोद मतिहीन॥

गीतावली

अपराधोंके कारण मेरा हृदय वज्रके समान कठोर हो गया है। तभी तो आपके नामोंको ग्रहण करते समय वह तनिक भी द्रवित नहीं होता। प्रभो! अब मैं हताश होकर दुःखसे अत्यन्त कातर होकर बारम्बार आपको पुकार रहा हूँ। आप करुणामय हैं, कृपा करके मुझे भावका केवल एक बूँद देकर मेरे व्याकुल प्राणोंकी रक्षा कीजिये। वह शुभ दिन मुझे कब प्राप्त होगा, जिस समय आपका नाम उच्चारण करते–करते मेरी आँखोंसे आँसुओंकी

धारा बहने लगेगी? गला रुद्ध हो जायेगा और मुखसे आधी–आधी बोली निकलेगी? मेरा सारा शरीर पुलकित हो उठेगा? मैं पसीनेसे तर हो जाऊँगा, सारे अङ्ग काँपने लगेंगे? प्रभो! मेरा शरीर कब स्तम्भित हो जायेगा, वह कब भावसे विह्वल होकर विवर्ण होगा और अन्तमें कब मूर्छित होऊँगा? पुनः सचेतन होनेपर केवल आपके नामोंका आश्रय करके ही प्राणोंको धारण करूँगा। यह मतिहीन भक्तिविनोद इस प्रकार रो–रोकर कहता है कि क्या कभी भी इस अभागेके ऐसे दिन हो सकेंगे?

सिद्धिका अन्तर्लक्षण क्या है?

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥७॥

अन्वय—गोविन्द-विरहेण (व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके विरहमें) मे (मेरा) निमेषेण (निमेषमात्र काल भी) युगायितं (युगके समान प्रतीत होता है) चक्षुषा प्रावृषायितं (मेरी आँखोंसे बादलोंकी वर्षाकी भाँति आँसुओंकी वर्षा होने लगती है) सर्वं जगत् शून्यायितं (यह सारा संसार मुझे शून्य-सा प्रतीत होता है)॥७॥

अनुवाद—हे सखि! गोविन्दके विरहमें मेरा निमेषमात्र काल भी युगके समान प्रतीत होता है; मेरी आँखोंसे बादलोंकी वर्षाकी भाँति आँसुओंकी वर्षा होने लगती है और यह सारा संसार मुझे शून्य-सा प्रतीत होता है॥७॥

सन्मोदनभाष्यम्—सा रतिरूपा भक्तिः प्रेमदशायां स्थायि-भावात्मिका सती विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभावसाहचर्येन भक्तिरसो भवति। तद्दशायां तस्याः सर्वेऽनुभावा सात्त्विकादयश्च पूर्णरूपेण लक्ष्यन्ते। 'सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः। 'भावः' स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥' (भ॰ र॰ सि॰ १/४/१) इति सिद्धान्तवाक्येन श्रीकृष्णे ममतातिशय्य-जनितगाढभावमयीभक्तिः प्रेमेति बोध्यम्। अत्र भक्तिरसस्याश्रय-विषयोर्मुख्यसम्बन्धभेदात् शान्तदास्यसख्यवात्सल्यमधुरा इति

पञ्चविधः मुख्यरसः। गौणसम्बन्धभेदेन हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि। भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा॥ (भ॰ र॰ सि॰ २/५/११६) इति। मुख्यरसानां मध्ये मधुररस एव सर्वोत्कृष्टः। स मुख्यरसः प्रेम-प्रणय-मान-स्नेह-रागानुराग-भाव-महाभावमयः। तत्रोल्लास-मात्राधिक्यव्यञ्जिता प्रीतिः रतिः शन्तरसेऽनुमीयते यस्या जातायामन्यत्र तुच्छबुद्धिश्च जायते। ममतातिशयाविर्भावेन समृद्धा प्रीतिः प्रेम दास्यरसे लक्ष्यते। यस्मिन् जाते तत्प्रीतिभङ्गहेतवो न प्रभवन्ति। विश्रम्भात्मकः प्रेमा प्रणयः सख्ये प्रतीयते। तस्मिन् जाते सम्भ्रमादि योग्यतायामपि तदभावः। प्रियत्वातिशयाभिमानेन कौटिल्याभ्यासपूर्वकभाववैचित्र्यं दधत् प्रणयो मानः यस्मिन् जाते श्रीभगवानपि तत्प्रणयकोपात् प्रेममयं भयं भजते। चेतो द्रवातिशयात्मकः प्रेमैव स्नेहः यस्मिन् जाते महावाष्पादि विकारः दर्शनातृप्तिस्तस्य परमसामर्थ्यादौ सत्यपि केषांचिदनिष्टशङ्काश्च जायते। द्वावेतौ वात्सल्ये लक्ष्यते। स्नेह एवाभिलाषात्मको रागः यस्मिन् जाते क्षणिकस्यापि विरहस्यासहिष्णुता। तत्संयोगे परदुःखमपि सुखत्वेन भवति, तद्वियोगे तद्विपरीतम्। स एव रागोऽनुक्षणं स्वविषयं नवत्वेनानुभावयन् स्वयञ्च नवनवीभन्ननुरागः। यस्मिन् जाते परस्परवशभावातिशयः प्रेमवैचित्र्यं तत्सम्बन्धि-न्यप्राणिन्यपि जन्मलालसा। विप्रलम्भे विस्फुर्तिश्च जायते। अनुराग एव असमोद्ध्र्वचमत्कारेण उन्मादनं महाभावः। यस्मिन् जाते योगे निमेषासहता कल्पक्षणत्वमित्यादिकम्।

वियोगे क्षणकल्पत्वमित्यादिकम्। उभयत्र महोद्दीप्त्याशेष-सात्त्विकविकारादिकं जायते इति प्रीतिसन्दर्भवचन साहाय्येन प्रेमावस्थायां विशेषत उज्ज्वलरसविक्रियायां भावसमूहानामत्रैव श्रीमन्महाप्रभुशिक्षायां समास एव लक्ष्यते। युगायितम् इति पद्यं सुगमम्। गोविन्दविरहेणेति वाक्येन विप्रलम्भो विज्ञापितः। 'स पूर्वरागो मानश्च प्रवासादिमयस्तथा। विप्रलम्भो बहुविधो विद्वद्भिरिह कथ्यते॥' (भ॰ र॰ सि॰ ३/५/२५) इति। अत्र तु महाप्रभुवाक्येन प्रपञ्चान्तर्वर्त्तिजीवानां पूर्वरागादिमयो विप्रलम्भ एव सर्वदा आस्वादनीयः॥७॥

पूर्व श्लोकमें कही गयी रतिरूपा भक्ति स्वयं स्थायीभावका रूप धारणकर विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी—इन भावसामग्रियोंके साथ मिलकर भक्तिरसमें परिणत होती है। उस दशामें उसके अनुभाव और सात्त्विक विकारसमूह पूर्ण रूपमें लक्षित होते हैं। श्रीरूपगोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धुमें प्रेमकी परिभाषा निर्द्धारित करते हुए कहते हैं—जो भावभक्ति अपनी प्रारम्भिक दशासे भी अधिकतर रूपमें चित्तको द्रवितकर सुस्निग्ध बना देती है, परमानन्दके उत्कर्षकी प्राप्ति कराती है तथा श्रीकृष्णमें प्रगाढ़ ममता उत्पन्न कराती है—उस प्रगाढ़ भावको ही विद्वज्जन 'प्रेम' कहते हैं। उक्त सिद्धान्त वचनके अनुसार प्रबल ममताजनित प्रगाढ़ भावमयी भक्तिको ही 'प्रेम' समझना चाहिये। विषय और आश्रयके परस्पर पाँच प्रकारके मुख्य सम्बन्धोंके भेदसे शान्त, दास्य, सख्य,

वात्सल्य और मधुर—पाँच मुख्य रस और गौण-सम्बन्ध भेदसे हास्य, अद्‌भुत, करुण, वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स—सात गौण रस होते हैं। मुख्य रसोंमें मधुररस ही सर्वोत्तम है। वही मधुररस क्रमशः प्रगाढ़से प्रगाढ़तर होता हुआ प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग, भाव और महाभावके रूपमें परिणत होता जाता है। जिस प्रीतिमें उल्लासकी मात्रा अधिक होती है, वैसी प्रीतिवाली रतिको शान्तरस कहते हैं। शान्तरसमें ब्रह्मनिष्ठा प्रधान, सर्वत्र (अन्य रसोंके प्रति) तुच्छबुद्धि और निरपेक्षता होती है। अतिशय ममताके आविर्भावसे समृद्ध प्रीतिरूप प्रेमको ही दास्यरस कहते हैं। दास्यरसके उदित होनेपर प्रीति-भङ्ग होनेका कोई कारण उपस्थित होनेपर भी वह प्रगाढ़तर प्रीति तनिक भी प्रभावित नहीं होती। आराध्यके प्रति और भी प्रगाढ़ विश्वासयुक्त प्रेमको प्रणय करते हैं; यह प्रणय सख्यरसका प्राण है। इसका प्रादुर्भाव होनेपर सम्भ्रम आदि योग्यतामें भी उसका अभाव देखा जाता है। अपनी परिपक्वावस्थामें प्रणय ही अतिशयवर्द्धित प्रीतिके कारण कुटिल रूप धारणकर एक विचित्र भावको प्राप्त होनेपर 'मान' कहलाता है। मान होनेपर श्रीभगवान् भी भक्तके प्रणय-कोपके प्रीतिमय भाववास्वादन हेतु भक्तको मनानेके लिए बाध्य हो जाते हैं। अत्यधिक रूपमें चित्तको द्रवित करनेवाले प्रगाढ़ प्रेमको ही स्नेह कहते हैं। स्नेहके उत्पन्न होनेपर महावाष्प आदि विकार

लक्षित होते हैं। इसमें कृष्ण-दर्शनकी लालसा कभी नहीं मिटती तथा कृष्णके सर्व-समर्थवान होनेपर भी "उसका कहीं अनिष्ट न हो जाये"—ऐसी आशङ्का होने लगती है। वात्सल्यरसमें ये दोनों लक्षण देखे जाते हैं।

अभिलाषात्मक स्नेहको ही 'राग' कहते हैं। रागके उत्पन्न होनेपर क्षणिक वियोग भी असह्य हो पड़ता है; मिलनमें अत्यधिक दुःख भी सुख जैसा जान पड़ता है। वियोगमें इससे ठीक विपरीत स्थिति हो जाती है। वही राग अपने इष्ट विषयको नित्य नवीन रूपमें अनुभावित कराता हुआ और स्वयं नवनवायमान होता हुआ अनुरागके रूपमें परिणत हो जाता है। अनुराग उत्पन्न होनेपर परस्पर वशीभूत होनेका भाव अत्यन्त अधिक रूपमें बढ़ जाता है। कृष्ण सम्बन्धी इतर प्राणियोंके रूपमें भी जन्म लेनेकी लालसारूप 'प्रेमवैचित्र्य' का प्रकाश होने लगता है तथा वियोगमें भी स्वविषय-स्वरूप कृष्णकी स्फुरणा विशेष रूपसे होने लगती है। वही अनुराग असमोर्द्ध्व चमत्कारितासे परिपूर्ण उन्मादावास्थाको प्राप्त होनेपर महाभाव कहलाता है। महाभावके उदय होनेपर संयोगमें पलकोंका गिरना भी असहनीय हो पड़ता है तथा एक कल्पका समय भी क्षणभरके समान प्रतीत होता है। इसके विपरीत वियोगमें क्षणभरका समय भी कल्पके समान जान पड़ता है। महाभावकी संयोग और वियोग, दोनों ही दशाओंमें सात्त्विक और सञ्चारी आदिके सभी विकार

अपनी चरमसीमामें उद्भासित होते हैं। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने प्रीतिसन्दर्भमें प्रदर्शित प्रेमके, विशेषतः उन्नत-उज्ज्वल मधुर प्रेमरसके क्रम-विकाशका सार संक्षेपमें इस एक ही श्लोकमें गागरमें सागरकी भाँति भर दिया है।

'युगायितम्'—यह पद्य सरल और सुगम है। 'गोविन्द विरहेण'—इस वाक्यसे विप्रलम्भ अर्थात् वियोगका भाव प्रकट होता है। रसिक विद्वानोंने विप्रलम्भको पूर्वराग, मान और प्रवास आदि भेदसे अनेक प्रकारका बतलाया है। फिर भी श्रीचैतन्यमहाप्रभुके इस श्लोकमें यह गूढ़-रहस्य अन्तर्निहित है कि प्रपञ्चान्तर्गत साधक जीवोंके लिए केवल पूर्वरागयुक्त विप्रलम्भका ही आस्वादन करना उचित है॥७॥

विरहावस्थाकी ये दस दशाएँ बतलायी गयी हैं—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तनु क्षीण होना, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु (मूर्च्छा)।

श्रीचैतन्यचरितामृत

उद्वेगे दिवस ना जाय, क्षण हैल युगसम।
वर्षार मेघप्राय अश्रु वर्षे नयन॥

गोविन्द-विरहे शून्य हइल त्रिभुवन।
तुषानले पोड़े—जेन ना जाय जीवन॥

(चै० च० अ० २०/४०-४१)

श्रीचैतन्यमहाप्रभु महावाभवमें विभोर होकर विरहावस्थामें कह रहे हैं—

सखि! श्रीनन्दनन्दनके बिना, उद्वेगके कारण मेरे दिन नहीं बीतते; एक-एक क्षणका समय भी एक-एक युगके समान प्रतीत होता है। जैसे बादलोंसे वर्षा होती है, वैसे ही मेरी आँखोंसे निरन्तर आँसुओंकी वर्षा हो रही है। गोविन्दका विरह अब सहा नहीं जाता, सारा संसार शून्य-सा प्रतीत हो रहा है; इस तुषानलरूपी विरहाग्निमें सदा-सर्वदा शरीर जल रहा है, परन्तु प्राण नहीं निकल रहे हैं। अब मैं क्या करूँ?

कीर्त्तन-पद

(क)

गाइते गाइते नाम कि दशा हइल।
कृष्ण नित्यदास मुईं हृदये स्फुरिल॥

जानिलाम माया-पाशे ए जड़ जगते।
गोविन्द-विरहे दुःख पाइ नाना मते॥

आर जे संसार मोर नाहि लागे भाल।
कहाँ जाइ कृष्ण हेरि ए चिन्ता विशाल॥

काँदिते काँदिते मोर आँखि वरिषय।
वर्षाधारा हेन चक्षे हइल उदय॥

निमेष हइल मोर शतयुग सम।
गोविन्द–विरह आर सहिते अक्षम॥

(ख)

शून्य धरातल, चौदिके देखिये,
पराण उदास हय।
कि करि कि करि, स्थिर नाहि हय,
जीवन नाहिक रय॥

व्रजवासीगण, मोर प्राण राख।
देखाओ श्रीराधानाथे।
भकतिविनोद, मिनती मानिया,
लओहे ताहारे साथे॥

श्रीकृष्ण–विरह आर सहिते ना पारि।
पराण छाड़िते आर दिन दूइ चारि॥

(ग)

गाइते गोविन्द–नाम, उपजिल भावग्राम,
देखिलाम यमुनार कूले।
वृषभानुसुता–सङ्गे, श्याम–नटवर रङ्गे,
बाँसुरी बाजाय नीपमूले॥

देखिया युगलधन, अस्थिर हइल मन,
ज्ञानहारा हइलुँ तखन।

कतक्षण नाहि जानि, ज्ञान लाभ हैल मानि,
आर नाहि भेल दरशन॥

(घ)

सखि गो! केमने धरिब पराण।
निमेष हइल युगेर समान॥

श्रावणेर धारा, आँखि वरिषय,
शून्य भेल धरातल।
गोविन्द-विरहे, प्राण नाहि रहे,
केमने बाँचिब बल॥

भकतिविनोद अस्थिर हइया,
पुनः नामाश्रय करि।
डाके राधानाथ, दिया दरशन,
प्राण राख, नहे मरि॥

गीतावली

(क)

श्रीकृष्णनामकीर्त्तन करते-करते मेरी बड़ी अद्भुत दशा हो गयी है। मेरे हृदयमें यह स्फुरित होने लगा है कि मैं कृष्णका नित्यदास हूँ; मैं कृष्णसे विमुख होकर मायाके विकट बन्धनमें जकड़ा हुआ इस जड़जगत्में नाना प्रकारके दुःख-कष्ट झेल रहा हूँ। अब मुझे यह संसार तनिक भी नहीं सुहाता। अब कहाँ जाऊँ, क्या

करूँ, कृष्ण कहाँ मिलेंगे? उनके बिना दर्शन किये चैन नहीं मिलता—यह एक विशाल चिन्ता लग गयी। रोते-रोते आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लगी रहती है, मानो श्रावणके महीनेमें मेघ बरस रहे हों। पलकमात्रका समय भी सैकड़ों युगोंके समान प्रतीत होता है। सखि! अब तो गोविन्दका विरह सहा नहीं जाता।

(ख)

अब तो यह सारा संसार ही शून्य-सा दीखता है, प्राण उदास हो रहे हैं; कहाँ जाऊँ, क्या करूँ कुछ भी स्थिर नहीं कर पाता हूँ। इधर प्राण निकल रहे हैं। व्रजवासियो! तनिक श्रीराधानाथका दर्शन कराकर मेरे जीवनकी रक्षा करो। भक्तिविनोदकी प्रार्थना सुनकर उसे भी अपने साथ-साथ ले लो; नहीं तो कृष्ण-विरह अधिक सहा नहीं जाता; शायद दो चार दिनोंमें ही प्राण निकल जायें।

(ग)

अहा! श्रीगोविन्द-नामका उच्चस्वरसे कीर्त्तन करने लगा; अङ्गोंमें नाना प्रकारके भाव उदित होने लगे। सहसा देखा, यमुनाका सुन्दर उपकूल; हरा-भरा मनोरम कुञ्ज; एक कदम्बवृक्षके नीचे श्रीवृषभानुनन्दिनीके साथ नटवर श्यामसुन्दर त्रिभङ्ग ललित भावसे बाँसुरी बजा रहे हैं। अपूर्व युगल जोड़ीका दर्शनकर स्थिर नहीं रह सका,

मूर्च्छित होकर भूतलपर गिर पड़ा। कितनी देर तक पड़ा रहा, पता नहीं। सचेतन होनेपर इधर-उधर; बहुत ढूँढ़ा, किन्तु बहुत चेष्टा करनेपर भी उनका दर्शन नहीं हुआ।

(घ)

अब तो सम्पूर्ण जगत् शून्य-सा प्रतीत होने लगा; आँखोंसे श्रावणकी वर्षाधाराकी भाँति अश्रुधाराएँ प्रवाहित होने लगीं। सखि! मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। आखिर प्राण धारण करूँ तो कैसे धारण करूँ? उनके विरहमें पलक भरका समय भी सैकड़ों युगोंके समान लगता है। अत्यन्त व्याकुल होकर श्रीभक्तिविनोद पुनः श्रीनामकीर्त्तन करते हुए जोर-जोरसे पुकारते हैं—"हे राधानाथ! हे कृष्ण-प्राणप्रिये!! आप लोग दर्शन देकर मेरे प्राणोंकी रक्षा करें; अन्यथा अब मैं मरनेवाला ही हूँ।"

सिद्धिकी निष्ठा

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा–
मदार्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥८॥

अन्वय—सः लम्पटः (वे लम्पट) पादरतां माम् (अपनी पाद सेवामें अनुरक्त मुझ दासीको) आश्लिष्य (प्रगाढ़ आलिङ्गन द्वारा आह्लादित करें) वा पिनष्टु (या पैरों तले रौंद डालें) वा अदर्शनात् (अथवा दर्शन न देकर विरहसे) मर्महतां करोतु (मर्माहत करते हुए पीड़ा भी पहुँचावें) यथा तथा विदधातु (या जैसी इच्छा हो सो करें, यहाँ तक कि दूसरी प्रियाओंके साथ रमण भी करें) तु एव (फिर भी वही) मत्प्राणनाथः (मेरे प्राणनाथ हैं) अपरः न (उनके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है)॥८॥

अनुवाद—वे (कृष्ण) लम्पट अपनी सेवामें अनुरक्त मुझ दासीको प्रगाढ़ आलिङ्गन द्वारा आह्लादित करें या पैरों तले रौंद डालें अथवा अपना दर्शन न देकर मुझे मर्मान्तिक पीड़ा प्रदान करें या उनकी जैसी भी इच्छा हो, करें—यहाँ तक कि दूसरी प्रियाओंके साथ मेरे सामने ही रमण करें; फिर भी वे ही मेरे प्राणनाथ हैं। उनके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है॥८॥

सन्मोदनभाष्यम्—प्रेमदशालब्धानां जीवानां का प्रवृत्तिरि-त्यालोच्याह—आश्लिष्य वा पादरतां इति। पादरतां मां आश्लिष्य सुखयतु, मां पदतले पिनष्टु पेषणं करोतु अथवा अदर्शनान्मां मर्महतां मर्मपीडितां करोतु; स लम्पटचूडामणिर्यथा येन तेन प्रकारेण मां विदधातु, स कदाचिन्नापरो भवति यतः स एव सर्वथा मम प्राणनाथः। 'मर्त्त्यो यदा त्यक्त-समस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे। तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥' (श्रीमद्भा॰ ११/२९/३४) इति लक्षणेन भक्तानां प्रेमदशायां कृष्णैकजीवनत्वम्। सिद्धौ च प्रेमदशायां भक्त-कृष्णयोः परस्परमाकर्षणरूपः परमो धर्मो दीप्यते। 'यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ। तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया' इति श्रीमद्भागवतवचनात् (श्रीमद्भा॰ ७/५/१४)। अत्रेदमालोच्यम्; अणुचैतन्यस्य जीवस्य विभु-चैतन्यस्य कृष्णस्य सम्बन्धे कश्चन स्वाभाविको धर्मोऽस्ति तयोः परस्परसम्बन्धात्मकः। स च धर्मो जीवस्य बहिर्मुखदशायां लुप्तप्रायस्तिष्ठति। पुनर्यदा जीवस्य स्वभावपरिष्क्रिया स्यात्, तदा जीवकृष्णयोरुभयगतः पूर्वसिद्धधर्मः पुनः प्रकटो भवति। आकर्षसन्निधौ परिष्कृतमयः लौहं यथा तथेति। एतद्दशायां पूर्वसिद्धधर्मप्रकटनमेव धर्मस्य प्रयोजनं न त्वन्यत्। जीवस्यापि तद्धर्मसाधने फलान्तराभाव इति ज्ञेयम्। 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहश्रृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥' (श्रीमद्भा॰

१०/३२/२२) इति भगवद्वचनात् कृष्णे प्रीतिरेव तत्प्रीतेः फलमिति सिध्यति। अत्रादर्शनात् यन्मर्माहतत्वं तदपि न दुःखजनकत्वं, किन्तु परम सुखजनकत्वं इति दर्शयन् श्रीकृष्णः—'एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-स्वानां हि वो मय्यनु-वृत्तयेऽबलाः। मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥' (श्रीमद्भा॰ १०/३२/२१) इति। अतः सुष्ठूक्तमाश्लिष्य वेति। एतदष्टकमाहात्म्यं संक्षेपेण वक्ष्यामि। स्वरूपशक्तेः श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशः राधया यन्मम माधुर्यमास्वादितं तदेव कीदृशं तदास्वादने यत् सौख्यं तत् कीदृशं वेति विचिन्त्य तदास्वादनलालसया परमतत्त्वस्वरूपः श्रीकृष्णः नित्यलीलापीठस्वरूपे वैकुण्ठे प्रकोष्ठविशेषे गोलोकाख्ये श्रीनवद्वीपधाम्नि औदार्यप्रचुरभगवत्स्वरूपेण श्रीकृष्णचैतन्याकारेण नित्यं तद्भावयोग्यां लीलामातनोति। स च सप्ताधिके चतुर्दश-शकाब्दे राधभावद्युतिसुवलितमयेन श्रीचैतन्यरूपेण गौडदेशन्तर्गतापरवृन्दारण्य इव श्रीमन्नवद्वीपनगरे श्रीजगन्नाथमिश्र-पत्नी-श्रीशचीगर्भे फाल्गुनी-पूर्णिमायां प्रादुरासीत्। शैशवे वयसि बालचापल्येन पौगण्डे विद्याभ्यासेन कैशोरे दारपरिग्रहपूर्वकसंसारचेष्टाप्रदर्शनेन भक्तिप्रचारेण च गौडक्षितिं परमानन्देन प्लावयामास। श्रीमध्वसम्प्रदायी परिव्राजकचूडामणि ईश्वरपुरीसकाशात् दीक्षाग्रहणेन जीवानां साधुगुरुपदाश्रयरूपकर्त्तव्यं शिक्षयामास। चतुर्विंशवर्षे शांकरसंन्यासी श्रीकेशवभारती-सकाशात् संन्यासं गृहीत्वा स्वगृहं त्यक्तवान्। ततस्तीर्थ-भ्रमणच्छलेन गौडपाश्चात्योढ्रदाक्षिणात्यप्रभृति देशवासिने

विशुद्धभक्तितत्त्वं शिक्षयन् नानामतवादिनां मतखण्डनान्तरं चतुर्विधवैष्णवसम्प्रदायसिद्धान्तसाररूपमचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वमूलकं स्वमतं स्थापयंश्च षड्वर्षाणि यापयामास। ततोऽष्टादशवर्षाणि श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रे वसन् चतुर्दिक्षु भक्तिप्रचारकान् प्रेरयित्वा स्वमतं विस्तृतवान्। स्वयञ्च बहुसिद्धवैष्णवपरिसेवितः कदाचित् भक्तिप्रचारं कदाचिद्वा स्वीयोद्देश्यत्रयसाधनरूपप्रेमास्वादनं कृतवान्। श्रीरूप–सनातन–रघुनाथ–गोपालभट्ट–जीव–प्रबोधानन्द–स्वरूप–रायरामानन्द–कविकर्णपूरप्रभृतिभिः स्वकीय सिद्धपार्षद–गणैः हृदि प्रेरणया स्वमतपरिपोषकानि नानाशास्त्राणि कारयामास। स कदाचिदपि सर्वसिद्धान्तपरिपूर्णमष्टकमिदं रचयन् सर्वानधिकारविशिष्टान् जीवानशिक्षयत्। कदाचिद्वा स्वीयान्तरङ्ग–सङ्गिद्वयस्वरूप–रामानन्द–सहितोऽस्य तात्पर्य–मास्वादयामास। एतत् सर्वं श्रीचैतन्यचरितामृतादौ विवृतमस्ति। श्रीचैतन्यचन्द्रः स्वीयगृहस्थचरितेन स्वधर्मपरान् गृहस्थान् स्वीय संन्यासचरितेन च सर्वान् परिव्राजकांश्च पुनश्चोपदेशद्वारा सर्वान् जीवानशिक्षयत्। अस्य शिक्षाष्टकस्य माहात्म्यं अनन्तम्।

गौराङ्गवक्त्राब्जविनिःसृतं शिक्षाष्टकं ये प्रपठन्ति भक्त्या।
ते गौरपादासवमुग्धचित्ताः मज्जन्ति प्रेमाम्बुनिधौ मुरारेः॥

श्रीगौरचन्द्रस्य चतुःशताब्द एकाधिके भक्तिविनोदकेन।
सन्मोदनाख्यं प्रभुवाक्यभाष्यं केदारनाथेन मया प्रणीतम्॥

माधुर्यरसास्वादिशुद्धवैष्णवानां सम्बन्धेऽस्य सर्ववेदसारत्वं भगवन्मुखाब्ज-गलितत्वान्महावाक्यत्वञ्च सर्वैरेव भाग्यवद्भि-रष्टकमिदं कण्ठभूषणं कर्त्तव्यं सर्वदा पठनीयं पूजनीयञ्च।

इति कलियुगपावनावतारश्रीमच्चैतन्यचन्द्रवदनाब्जविगलितं श्रीशिक्षाष्टकस्य सन्मोदनं नाम भाष्यं सम्पूर्णम्॥८॥

प्रेमकी दशामें पहुँचनेपर जीवोंकी मनोवृत्ति कैसी होती है, इस श्लोकमें उसका परिचय दिया जा रहा है। वह लम्पटचूड़ामणि अपनी पदसेवामें अनुरक्त मुझ दासीको प्रगाढ़ आलिङ्गनके द्वारा आह्लादित करे, अपने पैरों तले रौंद डाले अथवा अपना दर्शन न देकर मुझे मर्मान्तिक पीड़ा प्रदान करे, या उसकी जैसी भी इच्छो हो, करे—यहाँ तक कि दूसरी प्रियाओंके साथ मेरे ही सामने रमण भी करे; फिर भी वही मेरे प्राणनाथ है; उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसी ही कृष्णैकनिष्ठताका वैशिष्ट्य दिखलाया गया है—"जब मरणशील मनुष्य समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, उस समय मैं भी उसका कुछ विशेष कल्याण करनेका इच्छुक बन जाता हूँ और तब मैं उसे अमृतस्वरूप अपने प्रिय परिकरत्वकी प्राप्ति करा देता हूँ।" इस लक्षणसे यह ज्ञात होता है कि प्रेमदशामें श्रीकृष्ण ही भक्तोंके एकमात्र जीवन-धन और प्राणस्वरूप हो पड़ते हैं। उस दशामें भक्त और भगवान्‌का परस्पर आकर्षणरूप परमधर्म पूर्ण रूपमें प्रकाशित हो पड़ता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीप्रह्लाद महाराजने कहा है—“जैसे चुम्बकके पास लोहा स्वयं खिंचा आता है, वैसे ही चक्रपाणि भगवान्‌की स्वच्छन्द इच्छाशक्तिसे मेरा चित्त भी संसारसे अलग होकर उनकी ओर बरबस खिंच जाता है।” उक्त वचनोंसे इस विचारकी पुष्टि होती है कि अणु-चैतन्य जीव और विभु-चैतन्य श्रीकृष्णमें परस्पर सम्बन्धात्मक एक स्वाभाविक धर्म है। वह स्वाभाविक धर्म जीवोंकी बहिर्मुख दशामें लुप्तप्राय रहता है। परन्तु सौभाग्यवश जब जीवका स्वभाव निर्मल हो जाता है, तब जीव और कृष्णके बीच उभयनिष्ठ पूर्वसिद्ध स्वाभाविक धर्म पुनः प्रकट हो जाता है; ठीक उसी प्रकारसे जैसे शुद्ध—साफ-सुथरा लोहा चुम्बकके पास स्वयं खिंच जाता है। इस प्रकार धर्मका एकमात्र प्रयोजन उस पूर्वसिद्ध स्वाभाविक धर्मको ही प्रकट करना है। इसके अतिरिक्त उसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। अतः शुद्ध जीवोंके प्रेमरूप धर्मके साधनमें किसी भी दूसरे फलकी कामनाका अभाव समझना चाहिये। क्योंकि श्रीमद्भागवतमें स्वयं कृष्णने भी ऐसा ही कहा है—“मेरी प्यारी गोपियो! तुमने मेरे लिए घर-गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े ज्ञानी-योगी भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन सर्वथा निर्मल और निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे—अमर जीवनसे अनन्तकाल तक तुम्हारे प्रेम, और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका

सकता। मैं जन्म-जन्मके लिए तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे—प्रेमसे मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही रहूँगा।" भगवान्‌के इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि कृष्ण-प्रीति ही भक्त-प्रीतिका फल है अर्थात् भक्तजनोंमें स्वसुखकी कामनाका सर्वथा अभाव होता है; वे कृष्णकी सेवा करते हैं, उनसे प्रीति रखते हैं, उनसे मिलते हैं अथवा जो कुछ भी करते हैं—सबका उद्देश्य या फल केवलमात्र कृष्ण-प्रीति ही होता है।

यहाँ अदर्शन हेतु 'मर्मान्तिक पीड़ा' प्रदान करनेकी जो बात कही गयी है, वह भी यथार्थतः दुःखजनक नहीं; बल्कि परम सुखजनक ही है। यही बतलानेके लिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"प्यारी गोपियो! इसमें सन्देह नहीं कि तुम लोगोंने मेरे लिए लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी छोड़ दिया है। ऐसी स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न जाये, अपने सौन्दर्य और सुहागकी चिन्ता न करने लगे, मुझमें ही लगी रहे—इसीलिए परोक्ष रूपसे तुम लोगोंसे प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था। इसलिए तुम लोग मेरे प्रेममें दोष मत देखो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ।" दूसरी बात यह कि इस श्लोकमें 'आलिङ्गन' द्वारा आह्लादित करनेकी भी जो बात कही गयी है, उसमें भी स्वसुखकी कामनाकी गन्ध नहीं है; उसका तात्पर्य भी केवल

कृष्ण-प्रीतिसे ही है। अतः यह कथन भी प्रेमके अनुकूल सर्वथा सुन्दर और सिद्धान्त-सङ्गत ही है।

अब इस शिक्षाष्टकका माहात्म्य संक्षेपमें बतलाया जा रहा है। स्वरूपशक्तिस्वरूपा श्रीमती राधिकाजीके अलौकिक प्रणयकी महिमा कैसी है? वे श्रीमती राधिकाजी जिसका आस्वादन करती हैं, वह मेरी अद्भुत मधुरिमा कैसी है? और मेरी मधुरिमाकी अनुभूतिसे उन्हें कौन-सा अनिर्वचनीय सुख मिलता है?—इन तीन लालसाओंकी पूर्तिकी अभिलाषासे अपने नित्यलीलापीठस्वरूप वैकुण्ठके एक विशेष प्रकोष्ठमें गोलोक नामक श्रीनवद्वीपधाममें परमतत्त्व श्रीकृष्ण ही औदार्यप्रचुर भगवत्स्वरूपमें—श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके रूपमें उन तीन भावोंका रसास्वादन करनेके लिए नित्य विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ करते हैं। श्रीराधाभावद्युति-संवलित-तनु—वे श्रीकृष्णचन्द्र श्रीकृष्णचैतन्यरूपमें ब्रह्माके एक दिनमें केवल एक बार इस ब्रह्माण्डमें आविर्भूत होते हैं। अभी कुछ ही समय पूर्व उनका आविर्भाव पुण्यतोया भगवती भागीरथीके पुनीत तटपर पश्चिम बङ्गालके नदिया जिलान्तर्गत श्रीवृन्दावनसे अभिन्न श्रीनवद्वीप—श्रीमायापुरमें सम्वत् १५४२, सन् १४८६ ई॰ में चन्द्र-ग्रहण एवं शनिवारसे युक्त फाल्गुनी-पूर्णिमाको सायंकालमें हुआ था। ग्रहणके कारण उस समय सारा नगर हरिनामसङ्कीर्त्तनकी मधुर ध्वनिसे मुखरित हो रहा था। पिताका नाम पण्डित श्रीजगन्नाथ मिश्र और माताका नाम श्रीमती शचीदेवी था। बाल्यावस्थामें

बालसुलभ चपलतासे और कभी-कभी परम चमत्कारपूर्ण अलौकिक लीलाओंसे, पौगण्डावस्थामें विद्याविलाससे तथा किशोरावस्थामें शास्त्र-विधिसे विवाह करके आदर्श गृहस्थ-धर्मके पालन एवं भक्ति-प्रचारसे गौड़भूमिको परमानन्दसे आप्लावित कर दिया। तदनन्तर श्रीमध्वसम्प्रदायी परिव्राजक-चूड़ामणि श्रीईश्वरपुरीसे गयाक्षेत्रमें दशाक्षर गोपाल मन्त्रकी दीक्षा ग्रहणकर जीवोंको शास्त्रोक्त लक्षणसम्पन्न सद्‌गुरुका चरणाश्रय ग्रहणरूप कर्त्तव्यकी शिक्षा दी। गयासे लौटकर भक्तमण्डलीके साथ श्रीहरिनामसङ्कीर्त्तन द्वारा भक्ति-सरिताको प्रवाहितकर सारे गौड़भूमिको निमज्जित कर दिया। २४ वर्षकी अवस्थामें शाङ्कर-संन्यासी श्रीकेशवभारतीसे संन्यास ग्रहणकर सदाके लिए घर-बार छोड़ दिया। तदनन्तर छः वर्षों तक तीर्थ-भ्रमणके छलसे बङ्गाल, उड़ीसा, दक्षिण भारत, महाराष्ट्र और उत्तर-प्रदेश (मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, काशी) और बिहार (कन्हाई नाटशाला, राजमहल) की यात्राकर लाखों जीवोंको श्रीनामप्रेम प्रदान करके कृतार्थ किया, सर्वत्र शुद्धाभक्तिका प्रचार किया तथा नाना प्रकारके शास्त्र-विरुद्ध मतवादियोंके कुमतोंका खण्डनकर चतुर्विध वैष्णव-सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके सार-स्वरूप अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्वमूलक स्वमतकी स्थापना की। तदुपरान्त १८ वर्ष तक श्रीजगन्नाथपुरीमें स्थिर निवास करके स्वयं अपने नित्य सिद्धपरिकरोंके साथ अपनी तीनों लालसाओंकी पूर्ति हेतु प्रेमास्वादन किया तथा प्रभावशाली शुद्धभक्ति-

प्रचारकोंको भेजकर उनके द्वारा अपने विशुद्ध मतका प्रचार करवाया। इस प्रकार श्रीकृष्णप्रेमके प्रवाहसे सम्पूर्ण भारतको आप्लावित कर दिया। इसी बीच उन्होंने स्वरूप दामोदर, श्रीरायरामानन्द, श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती, श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरधुनाथदास, श्रीगोपालभट्ट, श्रीजीव, श्रीकविकर्णपूर आदि अपने सिद्ध परिकरोंके हृदयमें शक्ति–सञ्चारकर उनके द्वारा स्वमत पोषक अनेकानेक ग्रन्थरत्नोंकी रचना करवायी। उन्हीं श्रीगौराङ्गदेवने स्वयं भक्तिके समस्त सिद्धान्तोंसे परिपूर्ण 'श्रीशिक्षाष्टक' की रचना करके सब प्रकारके अधिकारियोंको इसकी शिक्षा दी। कभी–कभी अपने परम अन्तरङ्ग पार्षद श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीरायरमानन्दके साथ एकान्तमें इस 'शिक्षाष्टक' के तात्पर्यामृतका रसास्वादन किया करते थे। ये प्रसङ्ग श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ग्रन्थोंमें विद्यमान हैं।

इस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीगौराङ्गदेवने एक ओर अपनी आदर्श भक्तिमय गृहस्थ–लीलाके द्वारा स्वधर्म–परायण गृहस्थोंको जहाँ सद्गृहस्थाचरणकी शिक्षा दी है, वहाँ दूसरी ओर अपने आदर्श त्यागमय किन्तु उच्चतम भक्तिरसमय संन्यासलीलाके द्वारा सम्पूर्ण परिव्राजक मण्डलीको (विरक्तोंको) भी शिक्षा दी है। इस शिक्षाष्टककी महिमा अनन्त है।

जो श्रद्धालुजन, श्रीगौराङ्गदेवके श्रीमुखपद्म–विगलित इस शिक्षाष्टकका भक्तिपूर्वक पाठ करते हैं, वे श्रीगौरसुन्दरके

श्रीचरणकमलोंके मधु-आस्वादनके लोभसे मुग्ध होकर मुरारि श्रीकृष्णचन्द्रके प्रेम-सरोवरमें निमज्जित होते हैं। ४०१ गौराब्दमें केदारनाथ भक्तिविनोद—मेरे द्वारा श्रीशिक्षाष्टक का यह सन्मोदनभाष्य प्रणीत हुआ॥८॥

मधुररसका आस्वादन करनेवाले शुद्ध रसिक वैष्णवोंके लिए यह शिक्षाष्टक सम्पूर्ण वेदोंका सार-स्वरूप है। यह स्वयंभगवान्के श्रीमुखारविन्दसे विगलित होनेके कारण महावाक्यस्वरूप भी है। अतः सभी भाग्यवान जनोंको इस शिक्षाष्टकको कण्ठभूषण बनाकर प्रतिदिन नियमित रूपसे इसका पठन-पाठन एवं पूजन करना चाहिये।

श्रीश्रीगौरपरिकर महावदान्य श्रीलसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर कृत श्रीशिक्षाष्टकके सन्मोदन-भाष्यका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

श्रीचैतन्यचरितामृत

आमि कृष्णपद दासी, तिहों रस सुखराशि,
आलिङ्गिया करे आत्मसाथ।
किवा ना देन दरशन, ना जाने आमार तनु मन,
तवु तेंहों मोर प्राणनाथ॥

सखि हे, सुन मोर मनेर-निश्चय।
किवा अनुराग करे, किवा दुःख दिया मारे,
मोर प्राणेश्वर कृष्ण अन्य नय॥

छाड़ि अन्य नारीगण, मोर वश तनु मन,
मोर सौभाग्य प्रकट करिया।
ता'सबारे देन पीड़ा, आमा सने करे क्रीड़ा,
सेइ नारीगणे देखाइया॥

किवा तेंहों लम्पट, शठ धृष्ट सकपट,
अन्य नारीगण करे साथ।
मोरे दिते मनःपीड़ा, मोर आगे करे क्रीड़ा,
तवु तेहों मोर प्राणनाथ॥

ना गणि आपन दुःख, सबे वाञ्छि ताँर सुख,
ताँर सुख आमार तात्पर्य।
मोरे यदि दिले दुःख, तार हैल महासुख,
सेइ दुःख मोर सुखवर्य॥
(चै॰ च॰ अ॰ २०/४८-५२)

सखि! मैं तो श्रीकृष्णके श्रीचरणोंकी दासी हूँ, वे रसिकशेखर सुखके सागर हैं। वे प्रगाढ़ आलिङ्गनके द्वारा मुझे आह्लादित करें, पैरों तले कुचल डालें, मुझे कृपाकर दर्शनसे सुखी करें अथवा दर्शन न देकर मर्मान्तिक पीड़ा दे, मेरे तन-मनकी भावनाओंको भले ही न समझें; फिर भी वे मेरे प्राणनाथ ही हैं। सखि! मैंने मनमें यह निश्चय कर लिया है कि चाहे वे मुझसे प्रेम करें अथवा मुझे सतावें; मेरा सौभाग्य प्रकटकर अन्य रमणियोंको छोड़कर मेरे वशीभूत होवें—उन रमणियोंके सामने ही मेरे साथ

विहारकर उन्हें दुःखित करें; चाहे वे शठ, धृष्ट, कपटी और लम्पट भी क्यों न हों, भले ही वे मेरे सामने ही मुझे चिढ़ानेके लिए दूसरी गोपरमणियोंके साथ विहार करें; फिर भी वे ही मेरे प्राणनाथ हैं। मुझे अपने कष्टोंकी तनिक भी चिन्ता नहीं; सदा-सर्वदा उनके सुखकी ही कामना करती हूँ। उन्हें सर्वप्रकारसे सुखी रखना ही मेरे जीवनका मूल उद्देश्य है। यदि मुझे दुःख देनेसे उन्हें सुख मिले, तो वह दुःख ही मेरे लिए परम सुख है।

कीर्त्तन-पद

(क)

बन्धुगण! शुनह वचन मोर।
भावेते विभोर, थाकिये जखन,
देखा देय चित्तचोर॥

विचक्षण करि, देखिते चाहिले,
हय आँखि-अगोचर।
पुनः नाहि देखि, काँदये पराण,
दुखेर ना थाके ओर॥

जगतेर बन्धु सेइ कभु मोरे लय साथ।
यथा तथा राखु मोरे आमार से प्राणनाथ॥

दर्शन-आनन्द दाने, सुख देय मोर प्राणे,
बले मोरे प्रणय वचन।

पुनः अदर्शन दिया, दग्ध करे मोर हिया,
प्राणे मोरे मारे प्राणधन॥

याहे तार सुख हय, सेइ सुख मम।
निज सुखे दुःखे मोर सर्वदाइ सम॥

भकतिविनोद, संयोगे वियोगे,
ताँहे जाने प्राणेश्वर।
ताँर सुखे सुखी, सेइ प्राणनाथ,
से कभु ना हय पर॥

(ख)

योगपीठोपरि स्थित, अष्टसखी–सुवेष्टित,
वृन्दारण्ये कदम्ब–कानने।
राधा सह वंशीधारी, विश्वजन चित्तहारी,
प्राण मोर ताँहार चरणे॥

सखी आज्ञामत करि दोंहार सेवन।
पाल्यदासी सदा भावि दोहार चरण॥

कभु कृपा करि, मम हस्त धरि,
मधुर वचन बोले।
ताम्बूल लइया, खाय दुइ जने,
माला लय कुतूहले॥

अदर्शन हय कखन कि छले।
ना देखिया दोंहे हिया मोर ज्वले॥

जेखाने सेखाने, थाकुक दुजने,
आमि त चरण दासी।
मिलने आनन्द, विरहे यातना,
सकल समान वासि॥

राधाकृष्ण प्राण मोर जीवन मरणे।
मोरे राखि मारि सुखे थाकुक दुजने॥

भकतिविनोद, आन नाहि जाने,
पड़ि सखि पाय।
राधिकार गणे, थाकिया सतत,
युगल-चरण चाय॥

गीतावली

(क)

भावार्थ—प्रिय सखियो! मैं अपने हृदयकी भावनाओंको कैसे बतलाऊँ? जब मैं भाव-विभोर रहती हूँ, तब हठात् मेरे चित्तचोर दीख पड़ते हैं; किन्तु ज्योंही सचेतन होकर देखती हूँ, त्योंही वे छिप जाते हैं। ढूँढ़नेपर भी कहीं दिखायी नहीं पड़ते। उस समय दुःखकी सीमा नही रहती, शरीर थर-थर काँपने लगता है, प्राण छट-पट करने लगते हैं। हाय! हाय! क्या करूँ? वे जगत्-बन्धु हैं। मुझे वे अपने साथ लें, न लें, जहाँ-तहाँ, जैसे-तैसे रखें, वे मेरे प्राणनाथ हैं। अपने दर्शनोंसे मुझे आनन्दित करें, सुखी करें, अपने प्रणय भरे वचनोंसे मुझे मनावें अथवा दर्शन न देकर मेरे हृदयको दग्ध करें; मुझे अपने वियोग

द्वारा भले ही मार डालें, उन्हें जिस प्रकारसे सुख हो, वही करें; मैं सब कुछ सह लूँगी। मेरे लिए सुख-दुःख सब समान हैं। बस, वे सुखी रहें। संयोग और वियोगमें भक्तिविनोदके वे ही एकमात्र प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।

(ख)

दिव्य वृन्दावनके कदम्ब-काननमें अष्ट सखियोंसे परिवेष्टित होकर योगपीठस्थित रत्नसिंहासनपर विश्वजनोंके चित्तहरणकारी वंशीधारी श्रीनन्दनन्दन श्रीमती वृषभानन्दिनीके साथ विराजमान हो रहे हैं। इस युगल जोड़ीके श्रीचरणकमल ही मेरे जीवनके सर्वस्व हैं। मैंने इन श्रीचरणोंमें ही अपने प्राणोंको न्यौछावर कर दिया है। मैं उनकी पाल्यदासी हूँ। उनकी चरणसेवा करती हूँ। वे कभी मेरे हाथोंको पकड़कर मधुर वाणियोंसे ताम्बूल माँगकर खाते हैं, कभी कुतूहलपूर्वक मुझसे माला लेकर धारण करते हैं; कभी किसी बहाने कहीं छिप जाते हैं। उनके मिलनमें आनन्द और विरहमें यातना आदि सभीको समान मानती हूँ। जीवन और मरणमें—सब समय श्रीराधाकृष्णयुगल ही मेरे प्राण हैं। भक्तिविनोद उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता। वह उनकी प्राणप्रेष्ठ सखियोंके श्रीचरणोंमे पतित होकर, बस यही एकमात्र भिक्षा माँगता है कि वे मुझे श्रीमती राधिकाके निजगणमें रखकर सदा-सर्वदा श्रीयुगल-चरणोंकी सेवामें नियुक्त करें॥

अब अन्तमें श्रीराधापद–सेवाभिलाषी यह अनुवादक श्रीचक्रवर्ती ठाकुरके एक श्लोकको उद्धृतकर श्रद्धालु पाठकोंके श्रीचरणोंमें प्रणत हो रहा है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

समाप्त